ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)


वर्ष २४ } गोरखपुर, सौर चैत्र २००६, मार्च १९५० { संख्या ३
पूर्ण संख्या २८०


# ययातिका धर्म-प्रचार

धन्य धन्य नृप धन्य ययाति।
जाके राज विराजत सब जन धर्मनिरत दिन-राति ॥
दम्पति गृही अन्न बहुविध लै सादर अतिथि जिमावैं।
बाल वृद्ध अरु तरुन नारि-नर नरहरि के गुन गावैं ॥
कहुँ होम-मख होत, पूजि कोऊ श्रीहरिको ध्यावै।
सदाचरन प्रभु-चरन-भजन तजि काम न दूजो भावै ॥
भई भूमि वैकुण्ठ भुवन सम, मीच नगीच न आवै।
विष्णुदूत यम के दूतन कौं देखत मारि भगावैं ॥
सुख-संपति सौं भरो रहै गृह, बिसरि गये दुख-द्वंद।
नृप ययाति के राज प्रजाजन पूरित परमानंद ॥

—'राम'

याद रक्खो—तुम्हारी निन्दा करनेवालोंमें अधिकांश सच्चे हैं और अनजानमें ही तुम्हारा हित कर रहे हैं। पर जो तुम्हारी प्रशंसा करते हैं, उस प्रशंसामें अधिकतर अत्युक्ति होती है और उससे तुम्हारी हानि होती है। अतएव निन्दासे घबराओ मत, न निन्दा करनेवालोंसे द्वेष करो और न उनको अपना वैरी समझो। धीरतासे विचार करो कि वे तुम्हारे उन दोषोंको, जिनका तुम्हें पता नहीं है, खोज-खोजकर निकालते और तुम्हारे सामने रखते हैं। अपने उन दोषोंको देखो, उन्हें दूर करनेकी चेष्टा करो एवं निन्दा करनेवालोंका उपकार मानो। इसी प्रकार प्रशंसा सुनकर फूल न जाओ, संकोच करो, अपनी असली स्थितिपर—जिसको तुम अच्छी तरह जानते हो—विचार करो और उससे अधिक कही जानेवाली बातें तुम्हारे लिये अहितकर हैं—इस बातका निश्चय करके प्रशंसकोंसे दूर रहो। उन्हें अधिक मुँह मत लगाओ, पर तिरस्कार भी न करो और निन्दनीय काम न करके कौशलसे एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दो, जिसमें तुम्हारी प्रशंसा होनी बंद हो जाय।

याद रक्खो—आत्माका निन्दा तथा प्रशंसासे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। निन्दा-प्रशंसा होती हैं नाम तथा रूपकी। नाम और रूप दोनों ही तुम नहीं हो। आत्मस्वरूप तुमपर इनका आरोप किया गया है। ये बदलनेवाले हैं और अनित्य हैं। इनकी निन्दा-स्तुतिसे तुम्हारा वास्तवमें कुछ भी बिगड़ता-बनता नहीं है। अतः इनके सम्बन्धमें लोग कुछ भी कहें-सुनें, तुम उसकी ओर ध्यान ही मत दो। निरन्तर ध्यान रक्खो अपने मूल परमात्मस्वरूपकी ओर—जो नित्य है, शाश्वत है, निन्दा-स्तुतिसे परे है और सदा तुमसे अभिन्न है।

याद रक्खो—जबतक मिथ्या अभिमानवश तुम शरीर और नामको अपना स्वरूप माने हुए हो, तभी-तक तुम्हें इनकी स्तुति-निन्दा और मानापमानसे सुख-दुःख होते हैं। जिस दिन तुम अपनेको इनसे परे समझकर इनमें होनेवाली चेष्टाओंके द्रष्टा बन जाओगे, उसी दिन तुम इस कल्पित सुख-दुःखसे भी परे हो जाओगे। तुम्हारे अखण्ड नित्य आनन्दमय स्वरूपमें ये विकारी सुख-दुःख हैं ही नहीं।

याद रक्खो—तुम्हारे आत्मस्वरूपमें कोई भी विकार नहीं है, वह सर्वथा विशुद्ध है। व्यावहारिक जगत्‌में कर्म करते समय तुम्हारी यदि इस आत्म-स्वरूपमें स्थिति रहेगी तो व्यवहारमें यथायोग्य आचरण करते हुए भी तुम उससे अलग ही रहोगे। तथापि व्यावहारिक जगत्‌में इतना ख्याल तो अवश्य होना चाहिये कि व्यवहार आदर्श हो, शास्त्रानुमोदित हो, तथा आत्म-स्वरूपकी स्थितिसे विचलित करनेवाला न हो।

याद रक्खो—व्यावहारिक जगत्‌में तुमको जैसे दूसरोंके द्वारा होनेवाली निन्दा-स्तुतिसे उद्विग्न नहीं होना चाहिये, वैसे ही तुम्हें यथासाध्य दूसरोंकी निन्दा-स्तुतिमें प्रवृत्त भी नहीं होना चाहिये। कहीं आवश्यकता-वश किसीकी सच्ची स्तुति करनी पड़े तो इतनी आपत्ति-की बात नहीं; परन्तु किसीकी निन्दा करके तो कभी जीभको गंदा करना ही नहीं चाहिये। निन्दामें पापकी—मलकी ही बात आयेगी और वह तुम्हारी जीभसे लगकर उसे तो गंदा करेगी ही, जीभके द्वारा अंदर मनः प्रदेशमें जाकर वहाँ भी गंदगी फैलायेगी।

याद रक्खो—वे लोग बड़े ही भाग्यवान् हैं और सच्चे परमार्थसाधक हैं, जो किसीके द्वारा निन्दा सुनकर उद्विग्न नहीं होते, प्रशंसा सुनकर हर्षित नहीं होते और स्वयं न तो जिन्हें किसीमें दोष दीखता है, न जिनकी जीभ क्षणभरके लिये भी किसीकी निन्दा करनेमें प्रवृत्त होती है और न जिनके कान ही किसीकी निन्दा सुनना पसंद करते हैं।

'शिव'

# श्रीवाल्मीकीय रामायणकी कुछ सूक्तियाँ

## अयोध्याकाण्ड

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥
( २१ । १३ )

यदि गुरु भी अभिमानमें आकर कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान खो बैठे और कुमार्गपर चलने लगे तो उसे भी दण्ड देना आवश्यक हो जाता है ।

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
धर्मसंश्रितमप्येतत्पितुर्वचनमुत्तमम् ॥
( २१ । ४१ )

संसारमें धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है । धर्ममें ही सत्यकी प्रतिष्ठा है । पिताजीका यह वचन भी धर्मसे युक्त होनेके कारण श्रेष्ठ है ।

संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा ।
न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य तिष्ठता ॥
( २१ । ४२ )

धर्मका आश्रय लेकर रहनेवाले पुरुषको पिता-माता अथवा ब्राह्मणके वचनोंका पालन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसे मिथ्या नहीं करना चाहिये। अतः मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ।

गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः
क्रोधात्प्रहर्षादथवापि कामात् ।
यद् व्यादिशेत्कार्यमवेक्ष्य धर्मं
कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः ॥
( २१ । ५९ )

लक्ष्मण ! महाराज ( दशरथ ) हमलोगोंके गुरु, राजा और पिता होनेके साथ ही वृद्ध भी हैं; अतः वे क्रोधसे, हर्षसे अथवा कामनावश भी यदि किसी बातके लिये आज्ञा दें तो उसे धर्म समझकर करना चाहिये । जिसके जीवन और आचरणमें क्रूरता नहीं है, ऐसा कौन पुरुष होगा, जो पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करेगा ।

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ ।
यस्य किंचित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥
( २२ । २२ )

सुख-दुःख, भय-क्रोध, लाभ-हानि, उत्पत्ति-विनाश तथा इस प्रकारके और भी जितने विधान प्राप्त होते हैं, जिनका कोई कारण समझमें नहीं आता, वे सब दैवके ही कार्य हैं ।

दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम् ।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ॥
( २३ । १७ )

जो अपने पुरुषार्थसे दैवको दबा देनेकी शक्ति रखता है, वह दैवके द्वारा अपने कार्यमें बाधा पड़नेपर खेद नहीं करता—हतोत्साह होकर नहीं बैठता ।

व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ।
भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत् ॥
( २४ । २५ )

जो नारी जाति और गुणोंकी दृष्टिसे परम उत्तम है और सदा व्रत तथा उपवासमें ही तत्पर रहती है, वह भी यदि अपने पतिके अनुकूल रहकर उसकी सेवा न करे तो उसे पापियोंकी गति मिलती है ।

भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ।
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् ॥
( २४ । २६ )

देवताओंकी पूजा और वन्दनासे दूर रहनेपर भी जो स्त्री अपने स्वामीकी सेवामें लगी रहती है, वह उस सेवाके प्रभावसे उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त होती है ।

शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता ।
एष धर्मः स्त्रिया नित्यो वेदे लोके श्रुतः स्मृतः ॥
( २४ । २७ )

नारीको अपने पतिके प्रिय और हितमें संलग्न रहकर सदा उसकी सेवा ही करनी चाहिये । यही स्त्रीका लोक और वेदमें प्रसिद्ध सनातन धर्म माना गया है । इसीका श्रुतियों और स्मृतियोंमें भी वर्णन है ।

अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः ।
पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सुव्रताः ॥
( २४ । २८ )

देवि ! तुम्हें सदा अग्निहोत्रके समय मेरे कल्याणके लिये फूलोंसे देवताओंका पूजन करना चाहिये और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंका भी यथावत् सत्कार करना चाहिये ।

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा ।
स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते ॥
( २७ । ४ )

( सीता कहती हैं—) आर्यपुत्र ! पिता, माता, भाई, पुत्र तथा पुत्रवधू—ये सभी अपने पुण्यादि कर्मोंका फल भोगते हुए अपने-अपने प्रारब्धके अनुसार जीवन-निर्वाह करते हैं ।

भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥
( २७ । ५ )

नरश्रेष्ठ ! स्वामीके भाग्यका अनुसरण तो केवल स्त्री ही करती है । अतः आपके साथ मुझे भी वनवासकी आज्ञा मिल गयी, यह आपको स्वीकार करना चाहिये ।

न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः ।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ॥
( २७ । ६ )

नारीके लिये इस लोक और परलोकमें एकमात्र पति ही सदा आश्रय देनेवाला है । पिता, पुत्र, माता, सखियाँ तथा अपना यह शरीर भी उसका सच्चा सहायक नहीं है ।

श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां यशस्विनाम् ।
इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महामते ।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा ॥
( २९ । १८ )

यशस्वी ब्राह्मणोंके मुखसे एक बड़ी ही पवित्र कहावत सुनी जाती है, वह इस प्रकार है—इस लोकमें पिता आदिके द्वारा जो कन्या जिस पुरुषको अपने धर्मके अनुसार जलसे संकल्प करके दे दी जाती है, वह मरनेके बाद परलोकमें भी उसीकी स्त्री होती है ।

साध्वीनां हि स्थितानां तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते ।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते ॥
( ३९ । २४ )

जो सत्य, सदाचार, शास्त्रोंकी आज्ञा और कुलोचित मर्यादामें स्थित रहती हैं, उन साध्वी स्त्रियोंके लिये एकमात्र पति ही परम पवित्र एवं सर्वश्रेष्ठ आश्रय है ।

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥
( ३९ । ३० )

पिता, भ्राता और पुत्र—ये परिमित सुख प्रदान करते हैं; किंतु पति अपरिमित सुखका दाता है—उसकी सेवासे इह लोक और परलोक दोनोंमें कल्याण होता है । अतः ऐसी कौन स्त्री होगी जो अपने पतिका सत्कार नहीं करेगी ।

गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः ।
तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नेह विद्यते ॥
( ६१ । २४ )

स्त्रीका पहला सहारा पति है, दूसरा पुत्र है और तीसरे कुटुम्बीजन हैं; चौथा कोई सहारा उसके लिये नहीं है ।

भर्त्ता तु खलु नारीणां गुणवान्निर्गुणोऽपि वा ।
धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षं देवि दैवतम् ॥
( ६२ । ८ )

देवि कौसल्ये ! अपना पति गुणवान् हो या गुणहीन, धर्मका विचार करनेवाली स्त्रियोंके लिये वह प्रत्यक्ष देवता है ।

नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता ।
उभयोर्लोकयोर्लोके पत्या या संप्रसाद्यते ॥
( ६२ । १३ )

( कौसल्या पतिसे कहती हैं—) महाराज ! ( मुझे क्षमा करेंगे ) लोकमें परम श्लाघनीय बुद्धिमान् पति जिस स्त्रीको मनाता है, विनीत वचनोंसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा करता है, उस स्त्रीका इस लोकमें और परलोकमें भी कल्याण नहीं होता ।

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम् ।
शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ॥
( ६२ । १५ )

शोक धैर्यका नाश करता है, शोक शास्त्रज्ञानको भी नष्ट कर देता है तथा शोक सब कुछ नष्ट कर डालता है; शोकके समान कोई शत्रु नहीं है ।

अविज्ञाय फलं यो हि कर्म त्वेवानुधावति ।
स शोचेत्फलवेलायां यथा किंशुकसेचकः ॥
( ६३ । ९ )

जो फलको जाने बिना ही कर्मकी ओर दौड़ता है, वह फल-प्राप्तिके अवसरपर केवल शोकका भागी होता है—ठीक वैसे ही, जैसे पलाशको सींचनेवाला पुरुष उसका फल न पानेसे खिन्न होता है । ( पलाशका फूल परम सुन्दर होता है—यह देखकर किसीने सोचा, इसका फल भी अपूर्व होगा; परंतु जब फल लगा, तब उस सारहीन फलको देखकर उस वृक्षके सींचनेवाले मालीको बड़ी निराशा हुई । )

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद्राजा विधीयताम् ।
अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात् ॥
( ६७ । ८ )

( राजा दशरथकी मृत्यु हो जानेपर राजमन्त्रियोंने वसिष्ठजीसे कहा—) इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारोंमेंसे किसीको आज ही राजा बना दिया जाय; अन्यथा बिना राजाका हमारा राष्ट्र विनाशको प्राप्त हो जायगा।

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्॥
(६७। ३१)

बिना राजाके देशमें किसीकी कोई वस्तु अपनी नहीं रहती। मछलियोंकी भाँति सब लोग सदा परस्पर एक-दूसरेको अपना ग्रास बनाते—लूटते-खसोटते रहते हैं।

ये हि संभिन्नमर्यादा नास्तिकाश्छिन्नसंशयाः।
तेऽपि भावाय कल्पन्ते राजदण्डनिपीडिताः॥
(६७। ३२)

धर्म-मर्यादाको भङ्ग करनेवाले नास्तिक भी राजदण्डसे पीडित होकर ईश्वरीय सत्ताके प्रति सन्देहरहित होकर आस्तिक बन जाते हैं।

यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते।
तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः॥
(६७। ३३)

जैसे दृष्टि सदा ही शरीरके हितमें लगी रहती है, उसी प्रकार राजा राष्ट्रको सत्य और धर्ममें लगानेवाला होता है।

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्॥
(६७। ३४)

राजा सत्य है, राजा धर्म है, राजा कुलीन पुरुषोंका कुल है, राजा ही माता और पिता है तथा राजा समस्त मानवोंका हित-साधन करनेवाला है।

न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया॥
(१९। २२)

पिताकी सेवा अथवा उनकी आज्ञाका पालन—यह जैसा धर्म है, इससे बढ़कर दूसरा कोई भी धर्म नहीं है।

न सत्यं दानमानौ वा न यज्ञाश्चाप्तदक्षिणाः।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्हिता॥
(३०। ३५)

सीते! पिताकी सेवा करना जिस प्रकार कल्याणकारी माना गया है, वैसा प्रबल साधन न सत्य है, न दान-सम्मान है और न प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञ ही हैं।

स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्याः पुत्राः सुखानि च।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किंचिदपि दुर्लभम्॥
(३०। ३६)

गुरुजनोंकी सेवासे स्वर्ग, धन, धान्य, विद्या, पुत्र और सुख—कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

देवगन्धर्वगोलोकान् ब्रह्मलोकांस्तथा परान्।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः॥
(३०। ३७)

माता-पिताकी सेवामें लगे रहनेवाले महात्मा पुरुष देवलोक, गन्धर्वलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक तथा अन्य लोकोंको भी प्राप्त कर लेते हैं।

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमिते रवौ।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम्॥
(१०५। २४)

लोग सूर्योदय होनेपर प्रसन्न होते हैं, सूर्यास्त होनेपर भी खुश होते हैं, किंतु इस बातपर लक्ष्य नहीं करते कि प्रतिदिन अपने जीवनका नाश हो रहा है।

हृष्यन्त्यृतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिवागतम्।
ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयः॥
(१०५। २५)

नये-नये-से आये हुए ऋतुकालका प्रारम्भ देखकर मनुष्य हर्षमें भर जाते हैं, किंतु यह नहीं सोचते कि ऋतुओंके इस परिवर्तनके साथ-साथ प्राणियोंके जीवनका क्रमशः क्षय हो रहा है।

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे।
समेत्य तु व्यपेयातां कालमासाद्य कञ्चन॥
(१०५। २६)

जैसे महासागरमें बहते हुए दो काठ कभी एक दूसरेसे मिल जाते हैं और मिलकर कुछ कालके बाद एक दूसरेसे विलग भी हो जाते हैं—

एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः॥
(१०५। २७)

उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और धन भी मिलकर बिछुड़ जाते हैं। इनका वियोग अवश्यम्भावी है।

नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः।
इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति॥
(१०५। १५)

मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार कुछ नहीं कर सकता; क्योंकि यह पराधीन होनेके कारण असमर्थ है। काल इसे इधर-उधर खींचता रहता है।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥
( १०५ । १६ )

सभी संग्रहोंका अन्त क्षय है, बहुत ऊँचे चढ़नेका अन्त नीचे गिरना है। संयोगका अन्त वियोग और जीवनका अन्त मरण है।

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद्भयम्।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद्भयम्॥
( १०५ । १७ )

जैसे पके हुए फलोंको गिरनेके अतिरिक्त दूसरा कोई भय नहीं है, उसी प्रकार पैदा हुए मनुष्यको मृत्युके सिवा अन्यत्र भय नहीं है।

यथागारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वोपसीदति।
तथावसीदन्ति नरा जरामृत्युवशंगताः॥
( १०५ । १८ )

जिस प्रकार मजबूत खम्भेवाला मकान भी पुराना होनेपर गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जरा और मृत्युके वशमें पड़कर नष्ट हो जाते हैं।

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते।
यात्येव यमुना पूर्णं समुद्रमुदकार्णवम्॥
( १०५ । १९ )

जो रात बीत जाती है, वह फिर लौटकर नहीं आती— जैसे यमुना जलसे भरे हुए महासागरकी ओर ही बढ़ती जाती है, पीछेकी ओर नहीं लौटती।

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह।
आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः॥
( १०५ । २० )

दिन-रात लगातार बीत रहे हैं, और संसारमें सभी प्राणियोंकी आयुका तीव्र गतिसे नाश कर रहे हैं—ठीक उसी तरह, जैसे सूर्यकी किरणें गर्मीमें शीघ्रतापूर्वक जलको सुखाती रहती हैं।

आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि।
आयुस्तु हीयते यस्य स्थितस्यास्य गतस्य च॥
( १०५ । २१ )

भाई! तू अपनी चिन्ता कर, दूसरेकी चिन्ता क्यों करता है। जो यहाँ मौजूद है और जो ( हमारे दृष्टिपथसे दूर ) चला गया है, सबकी आयु कम हो रही है।

सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति।
गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते॥
( १०५ । २२ )

मृत्यु साथ ही चलती है, वह साथ ही बैठती है और सुदूरवर्ती पथपर भी साथ-साथ जाकर साथ ही लौट आती है। ( हम सदा ही उसके वशमें रहते हैं। )

गात्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः।
जरया पुरुषो जीर्णः किं हि कृत्वा प्रभावयेत्॥
( १०५ । २३ )

सब अङ्गोंमें झुर्रियाँ पड़ गयीं, बाल सफेद हो गये, बुढ़ापेने मनुष्यको जर्जर कर दिया; अब वह कौन-सा पुरुषार्थ करके प्रभुता स्थापित करेगा।

यथा मृतस्तथा जीवन् यथासति तथा सति।
यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात्परितप्येत केन सः॥
( १०६ । ४ )

जैसे मरे हुए जीवका अपने शरीर आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार जीते-जी भी वह उसके सम्बन्धसे रहित है। जैसे वस्तुके अभावमें उसके प्रति राग-द्वेष नहीं होता, वैसे ही उसके रहनेपर भी मनुष्यको राग-द्वेषसे शून्य होना चाहिये। जिसे ऐसी विवेकयुक्त बुद्धि प्राप्त हो गयी है, उसको किससे संताप होगा।

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात्पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः॥
( १०७ । १२ )

क्योंकि बेटा 'पुम्' नामक नरकसे पिताका त्राण (उद्धार) करता है, इसलिये 'पुत्र' कहा गया है। वास्तवमें जो पितरोंका सब ओरसे परित्राण करता है, वही पुत्र है।

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः॥
( १०९ । ३ )

जो पुरुष धर्म अथवा वेदकी मर्यादाको त्याग बैठता है, वह पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता है। उसके आचार और विचार दोनों ही भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिये वह सत्पुरुषोंमें कभी सम्मान नहीं पाता।

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम्।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाशुचिम्॥
( १०९ । ४ )

मनुष्यका आचरण ही यह बतलाता है कि वह कुलीन है या अकुलीन, वीर है या कायर अथवा पवित्र है या अपवित्र ।

अनार्यस्त्वार्यसंस्थानः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः ।
लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानिव ॥
( १०९ । ५ )

पाखण्डी मनुष्य अनार्य होकर भी आर्यके समान मालूम हो सकता है, शौचाचारसे हीन होकर भी अपनेको परम शुद्ध रूपमें प्रकट कर सकता है; उत्तम लक्षणोंसे शून्य होकर सुलक्षण-सा दिखायी दे सकता है और बुरे स्वभावका होकर भी दिखावेके लिये सुशील-सा आचरण कर सकता है ।

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम् ।
तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः ॥
( १०९ । १० )

सत्यका पालन ही राजाओंका दयाप्रधान धर्म है, उनका सनातन आचार है; अतः राज्य सत्यस्वरूप है । सत्यमें ही सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ।

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे ।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम् ॥
( १०९ । ११ )

ऋषियों और देवताओंने सत्यको ही आदर दिया है । इस लोकमें सत्य-भाषण करनेवाला मनुष्य अक्षय परमधामको प्राप्त होता है ।

उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः ।
धर्मः सत्यं परो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते ॥
( १०९ । १२ )

लोग झूठ बोलनेवाले मनुष्यसे उसी प्रकार डरते हैं, जैसे साँपसे । संसारमें सत्य ही सबसे महान् धर्म है । वही सबका मूल कहा जाता है ।

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदा श्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥
( १०९ । १३ )

जगत्में सत्य ही ईश्वर है । सदा सत्यके ही आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है । सत्य ही सबकी जड़ है, सत्यसे बढ़कर दूसरी कोई उत्तम गति नहीं है ।

दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च ।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत् ॥
( १०९ । १४ )

दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद—इन सबका आश्रय सत्य है; इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये ।

एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम् ।
मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते ॥
( १०९ । १५ )

कोई लोकका पालन करता है, कोई कुलके पालनमें लगा रहता है, कोई नरककुण्डमें डूबता है और कोई स्वर्गलोकमें पूजित होता है ।

असत्यसन्धस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः ।
नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम् ॥
( १०९ । १८ )

हमने सुना है कि जो अपनी प्रतिज्ञा झूठी करनेके कारण सत्यरूप धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है, उस चञ्चल चित्तवाले पुरुषके दिये हुए हव्य और कव्यको देवता और पितर स्वीकार नहीं करते ।

कायेन कुरुते पापं मनसा संप्रधार्य तत् ।
अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम् ॥
( १०९ । २१ )

मनुष्य पहले मनमें विचार करके असत्यरूप पापको जिह्वासे कहता है फिर उसे शरीरद्वारा करता है; अतः मानसिक, वाचिक और कायिक—तीन प्रकारके पातक होते हैं ।

भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि ।
सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत्ततः ॥
( १०९ । २२ )

भूमि, कीर्ति, ( बड़ाई ), यश (ख्याति और लक्ष्मी—ये सत्यवादी पुरुषको प्राप्त करना चाहते हैं और उसीका अनुसरण करते हैं; अतः सदा सत्यका ही सेवन करना चाहिये ।

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥
( १०९ । ३१ )

सत्य, धर्म, पराक्रम, जीवोंपर दया, प्रिय भाषण तथा ब्राह्मण, देवता और अतिथियोंका पूजन—इन सबको साधु पुरुष स्वर्गका मार्ग बतलाते हैं ।

धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेता-
स्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः ।

अहिंसका वीतमलाश्च लोके
भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥
( १०९ । ३६ )

धर्माचरणमें तत्पर, सत्पुरुषोंका संग करनेवाले, तेजस्वी, प्रधानतः दानरूप गुणको अपनानेवाले, अहिंसक तथ निष्पाप मुनि लोकमें पूजित होते और श्रेष्ठ माने जाते हैं ।

कच्चित्सहस्रैर्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम् ।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं महत् ॥
( १०० । २२ )

क्या तुम एक हजार मूर्खोंको छोड़कर एक ही विद्वान् पुरुषको अपने पास रखना पसंद करते हो ? क्योंकि अर्थ-संकटके समय विद्वान् पुरुष बहुत बड़ा हित कर सकता है ।

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः ।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥
( १०० । ३९ )

वेदविरुद्ध दूषित ज्ञान रखनेवाले पण्डितमानी पुरुष प्रमाणभूत मुख्य-मुख्य धर्मशास्त्रोंके होते हुए भी कोरी तार्किक बुद्धिका आश्रय लेकर व्यर्थ बकवाद किया करते हैं ।

नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः ।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः ॥
( ११७ । २१ )

अपने स्वामी नगरमें रहें या वनमें, भले हों या बुरे—जिन स्त्रियोंको वे प्रिय होते हैं, उन्हें महान् अभ्युदयशाली लोकोंकी प्राप्ति होती है ।

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः ।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥
( ११७ । २२ )

पति बुरे स्वभावका, मनमाना आचरण करनेवाला अथवा धनहीन ही क्यों न हो—वह उत्तम स्वभाववाली नारियोंके लिये श्रेष्ठ देवतास्वरूप ही है ।

अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते ।
स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम् ॥
( ३० । ३३ )

माता, पिता और गुरु—ये प्रत्यक्ष देवता हैं; इनकी अवहेलना करके अप्रत्यक्ष देवताकी विविध उपचारोंसे आराधना करना कैसे ठीक हो सकता है ?

यत्र त्रयं त्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि ।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते ॥
( ३० । ३४ )

जिनकी सेवासे अर्थ, धर्म और काम—तीनोंकी प्राप्ति होती है, जिनकी आराधनासे तीनों लोकोंकी आराधना हो जाती है, उन माता-पिताके समान पवित्र इस संसारमें दूसरा कोई भी नहीं है; सीते ! इसीलिये लोग इन प्रत्यक्ष देवता ( माता-पिता ) की आराधना करते हैं ।

## किष्किन्धाकाण्ड

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं बलम् ।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुर्लभम् ॥
( १ । १२३ )

( लक्ष्मणजी भगवान् श्रीरामसे कहते हैं— ) 'भैया ! उत्साह ही बलवान् होता है, उत्साहसे बढ़कर दूसरा कोई बल नहीं है । उत्साही पुरुषके लिये संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है ।

उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु ।
उत्साहमात्रमाश्रित्य प्रतिलप्स्याम जानकीम् ॥
( १ । १२४ )

उत्साही मनुष्य कठिन-से-कठिन काम आ पड़नेपर भी हिम्मत नहीं हारते । केवल उत्साहका सहारा लेकर हमलोग जनकनन्दिनीको पुनः प्राप्त कर लेंगे ।

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तगे ।
विमृशंश्च स्वया बुद्ध्या धृतिमान्नावसीदति ॥
( ७ । ९ )

शोकमें, आर्थिक संकटमें अथवा प्राणान्तकारी भय उपस्थित होनेपर जो अपनी बुद्धिसे दुःखनिवारणके उपायका विचार करते हुए धैर्य धारण करता है, उसे कष्ट नहीं उठाना पड़ता ।

रजतं वा सुवर्णं वा शुभान्याभरणानि च ।
अविभक्तानि साधूनामवगच्छन्ति साधवः ॥
( ८ । ७ )

अच्छे स्वभाववाले मित्र अपने घरके सोने-चाँदी अथवा उत्तम आभूषणोंको अपने सन्मित्रोंसे अलग नहीं समझते ।

आढ्यो वापि दरिद्रो वा दुःखितः सुखितोऽपि वा ।
निर्दोषश्च सदोषश्च वयस्यः परमा गतिः ॥
( ८ । ८ )

मित्र धनी हो या गरीब, सुखी हो या दुखी अथवा निर्दोष हो या सदोष; वह मित्रके लिये सबसे बड़ा सहायक होता है ।

धनत्यागः सुखत्यागो देशत्यागोऽपि वानघ।
वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम्॥
(८।९)

साधु पुरुष अपने मित्रका अत्यन्त उत्कृष्ट प्रेम देख आवश्यकता पड़नेपर उसके लिये धन, सुख और देशका भी परित्याग कर देते हैं।

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥
(१८।३३)

मनुष्य पाप या अपराध करनेके पश्चात् यदि राजाके दिये हुए दण्डको भोग लेते हैं तो वे शुद्ध होकर पुण्यात्मा पुरुषोंकी भाँति स्वर्गलोकमें आ जाते हैं।

शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पापात्प्रमुच्यते।
राजा त्वशासन्पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम्॥
(१८।३४)

( चोर आदि अपराधी जब राजाके सामने उपस्थित हों, उस समय ) राजा दण्ड दे अथवा दया करके छोड़ दे, पापी पुरुष अपने पापसे मुक्त हो जाता है; किंतु यदि राजा पापी-को उचित दण्ड नहीं देता तो उसे स्वयं उसके पापका फल भोगना पड़ता है।

यो हि मित्रेषु कालज्ञः सततं साधु वर्तते।
तस्य राज्यं च कीर्तिश्च प्रतापश्चापि वर्धते॥
(२९।१०)

जो राजा कब प्रत्युपकार करना चाहिये, इस बातको जानता हुआ मित्रोंके प्रति सर्वदा साधुताका बर्ताव करता है, उसके राज्य, यश और प्रतापकी वृद्धि होती है।

यस्य कोशश्च दण्डश्च मित्राण्यात्मा च भूमिप।
समान्येतानि सर्वाणि स राज्यं महदश्नुते॥
(२९।११)

राजन्! जिसकी दृष्टिमें खजाना, सेना, मित्र और अपना शरीर—ये सभी समान हैं, वही महान् राज्यका शासन एवं उपभोग करता है ( उसके राज्यकी वृद्धि होती है )।

यो हि कालव्यतीतेषु मित्रकार्येषु वर्तते।
स कृत्वा महतोऽप्यर्थान्न मित्रार्थेन युज्यते॥
(२९।१४)

कार्य-साधनका उपयुक्त अवसर बीत जानेके बाद जो मित्रके काममें लगता है, वह बड़े-से-बड़े कार्यको सिद्ध करके भी मित्रता निभानेवाला नहीं माना जाता।

संत्यज्य सर्वकर्माणि मित्रार्थे यो न वर्तते।
संभ्रमाद् विकृतोत्साहः सोऽनर्थेनावरुध्यते॥
(२९।१३)

जो अपने सब कामोंको छोड़कर मित्रका कार्य सिद्ध करनेके लिये शीघ्रताके साथ प्रयत्न नहीं करता, अपितु हतोत्साह होकर बैठ जाता है, उसे अनर्थका भागी होना पड़ता है।

अर्थिनामुपपन्नानां पूर्वं चाप्युपकारिणाम्।
आशां संश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधमः॥
(३०।७१)

जो बल और पराक्रमसे सम्पन्न तथा पहले उपकार करनेवाले कार्यार्थी पुरुषोंको आशा देकर—उनका कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके पीछे उसे तोड़ देता है, वह संसारके सभी पुरुषोंमें नीच है।

शुभं वा यदि वा पापं यो हि वाक्यमुदीरितम्।
सत्येन परिगृह्णाति स वीरः पुरुषोत्तमः॥
(३०।७२)

जो अपने मुँहसे प्रतिज्ञाके रूपमें निकले हुए भले या बुरे हर तरहके वचनोंको सत्यरूपमें ग्रहण करता है—उन्हें सत्य कर दिखाता है, वह वीर समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ है।

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते॥
(३०।७३)

जो अपना स्वार्थ सिद्ध हो जानेपर अपने मित्रोंके कार्यको पूरा करनेकी परवा नहीं करते, उन कृतघ्न पुरुषोंके मरनेपर मांसाहारी जन्तु भी उनका मांस नहीं खाते।

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः॥
(६४।९)

मनको विषादग्रस्त नहीं बनाना चाहिये, विषादमें बहुत बड़ा दोष है। जैसे क्रोधमें भरा हुआ साँप बालकको काट खाता है, उसी प्रकार विषाद पुरुषका नाश कर डालता है।

यो विषादं प्रसहते विक्रमे समुपस्थिते।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न सिध्यति॥
(६४।१०)

जो पराक्रमका अवसर उपस्थित होनेपर विषादग्रस्त हो जाता है, उसके तेजका नाश हो जाता है; फिर उससे पुरुषार्थ नहीं होता।

## सुन्दरकाण्ड

अनिर्वेदः श्रियो मूलमनिर्वेदः परं सुखम् ।
अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तकः ।
करोति सफलं जन्तोः कर्म यच्च करोति सः ॥
( १२ । १०-११ )

हताश न होना ही सफलताका मूल है और यही परम सुख है । उत्साह ही मनुष्यको सर्वदा सब प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाला है और जीव जो कुछ कर्म करता है, उसे उत्साह ही सफल बनाता है ।

## लङ्काकाण्ड

आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः ।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
( १८ । २८, ३३ )

श्रीरामजी कहते हैं—शत्रु दुखी हो अथवा अभिमानी, यदि वह अपने विपक्षीकी शरणमें आ जाय तो शुद्ध चित्तवाले सत्पुरुषको अपने प्राणोंका मोह छोड़कर उसकी रक्षा करनी चाहिये। मेरा यह नियम है कि जो एक बार शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' यों कहकर मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ ।

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः ।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति ॥
( २ । ६ )

जो पुरुष निरुत्साह, दीन और शोकाकुल रहता है, उसके सब काम बिगड़ जाते हैं और वह बहुत बड़ी विपत्तिमें पड़ जाता है ।

धर्मात्प्रच्युतशीलं हि पुरुषं पापनिश्चयम् ।
त्यक्त्वा सुखमवाप्नोति हस्तादाशीविषं यथा ॥
( ८७ । २२ )

जिसका स्वभाव धर्मसे भ्रष्ट हो गया है, जिसने पापाचरण-का दृढ़ निश्चय कर लिया है, उसका त्याग करके साधु पुरुष सुखी होता है—जैसे सर्पको हाथसे हटा देनेपर मनुष्य निर्भय हो जाता है ।

परस्वहरणे युक्तं परदाराभिमर्शकम् ।
त्याज्यमाहुर्दुरात्मानं वेश्म प्रज्वलितं यथा ॥
( ८७ । २३ )

जिस प्रकार जलता हुआ घर त्याग देने योग्य है, उसी प्रकार जो पराया धन हड़पनेमें लगा हो और पर-स्त्रीके साथ बलात्कार करता हो, उस दुष्टात्मा पुरुषको भी त्याग देने योग्य बताया गया है ।

परस्वानां च हरणं परदाराभिमर्शनम् ।
सुहृदामतिशङ्का च त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥
( ८७ । २४ )

दूसरोंके धनका अपहरण, पर-स्त्रीके साथ बलात्कार और अपने हितैषी सुहृदोंके प्रति घोर अविश्वास—ये तीनों दोष जीवका नाश करनेवाले हैं ।

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः ।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥
( १०१ । १५ )

प्रत्येक देशमें स्त्रियाँ मिल सकती हैं, हर देशमें जाति-भाई प्राप्त हो सकते हैं; परंतु ऐसा कोई देश नहीं दिखायी देता, जहाँ सहोदर भाई मिल सकता हो ।

नैवार्थेन च कामेन विक्रमेण न चाज्ञया ।
शक्या दैवगतिर्लोके निवर्तयितुमुद्यता ॥
( ११० । २५ )

संसारमें फल देनेके लिये उन्मुख हुए दैवके विधानको कोई धन खर्च करके इच्छामात्रसे, पराक्रमके द्वारा अथवा आदेश देकर नहीं पलट सकता ।

अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः ।
भर्तः पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः ॥
( १११ । २४ )

स्वामिन् ! इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि समय आनेपर कर्ताको उसके पापका फल अवश्य मिलता है ।

न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम् ।
समयो रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्रभूषणाः ॥
( ११३ । ४३ )

श्रेष्ठ पुरुष दूसरे पापाचारी प्राणियोंके पापको नहीं ग्रहण करता—उन्हें अपराधी मानकर उनसे बदला लेना नहीं चाहता । इस उत्तम सदाचारकी सदा रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि सदाचार ही सत्पुरुषोंका भूषण है ।

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा ।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति ॥
( ११३ । ४४ )

पापी हो या पुण्यात्मा अथवा वधके योग्य अपराध करनेवाले ही क्यों न हों, उन सबके ऊपर श्रेष्ठ पुरुषको दया करनी चाहिये; क्योंकि ऐसा कोई नहीं है, जो सर्वथा अपराध न करता हो।

उत्तरकाण्ड

मातरं पितरं विप्रमाचार्यं चावमन्य वै।
स पश्यति फलं तस्य प्रेतराजवशं गतः॥
(१५।२१)

जो माता, पिता, ब्राह्मण और आचार्यका अपमान करता है, वह यमराजके वशमें पड़कर उस पापका फल भोगता है।

अध्रुवे हि शरीरे यो न करोति तपोऽर्जनम्।
स पश्चात्तप्यते मूढो मृतो गत्वाऽऽत्मनो गतिम्॥
(१५।२२)

यह शरीर क्षणभङ्गुर है; इसमें रहते हुए जो जीव तपका उपार्जन नहीं करता, वह मूर्ख मरनेके बाद, जब उसे अपने दुष्कर्मोंका फल मिलता है, बहुत पश्चात्ताप करता है।

# समस्याओंका मूल

( लेखक—श्रीब्रह्मानन्दजी )

जिसने सन्मार्गका त्याग करके असन्मार्ग ग्रहण किया है, उसके सामने नाना प्रकारकी समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। उसका जीवन ही समस्यामय बन जाता है! जितना ही वह उन समस्याओंको सुलझानेकी चेष्टा करता है, उतना ही वह और भी उनमें फँसता जाता है—ठीक उसी प्रकार, जैसे मकड़ीके जालमें फँसी हुई मक्खी जितना ही बन्धनमुक्त होनेके लिये छटपटाती है, उतना ही और भी उसमें फँसती जाती है। ऐसे लोगोंके जीवनमें एक समस्या दूसरी अनेक समस्याओंको जन्म देती है। इधर एक समस्या 'हल' की, उधर और नयी-नयी बहुत-सी पैदा हो गयीं। जैसे एक गड्ढा भरनेके लिये और अनेक गड्ढे खोदे जाते हैं, उसी प्रकार समस्याओंकी संख्या घटनेके बदले बढ़ती ही जाती है। ऐसी अवस्थामें उन्हें भला, सुख-शान्ति कैसे मिले। वे तो असत्का सहारा लेकर सुख-शान्तिके मूलसे और भी दूर हटते जा रहे हैं और स्वयं अपने ही साथ धोखा कर रहे हैं।

अतएव यदि जीवनकी समस्याओंका सच्चा हल करना हो तो हम जिस दिशामें जा रहे हैं, हमें उसके विरुद्ध दिशामें जाना होगा। यहाँपर अपने दुःख—कष्टका प्रश्न ही नहीं उठना चाहिये। असत्यसे आजतक न किसीको सच्चा सुख मिला और न आगे मिलनेका। अन्तमें सत्यकी ही जय होती है और सत्य ही सुख-शान्तिकी एकमात्र प्रतिष्ठा है।

जब हम सत्य मार्गपर चलने लगते हैं, तब सब दैवी शक्तियाँ हमारे अनुकूल होती जाती हैं। समय-समयपर हमको आवश्यकतानुसार दैव-विधानसे सहायता मिलती जाती है और असत्—अन्धकारसे होनेवाला हमारा संघर्ष एक दिन विजयमें परिणत हो जाता है। वर्तमान कालमें समस्याओंके हल होनेके बदले और भी बढ़ते जानेका एकमात्र कारण यही है कि हमने सन्मार्गको छोड़कर असन्मार्ग ग्रहण किया है और हम ऊपर-ऊपरके क्षुद्र इलाजोंके भरोसे ही थोड़ी-बहुत दौड़-धूप कर लेते हैं। यदि हम सच्चे हों तो हमें अपने व्यक्तिगत जीवनकी समस्याओंको हल करनेके लिये किसी अन्य व्यक्ति, समाज, सङ्गठन, संस्था आदिका मुँह ही न ताकना पड़े। कारण, सत्-पथके प्रदर्शक अन्तर्यामी भगवान् तो हमारे अंदर ही मौजूद हैं। उनकी मूक-वाणीका सहारा लेकर यदि हम पथभ्रष्ट करनेवाले प्रलोभनोंसे बचते हुए आगे बढ़ते गये तो हम एक दिन अवश्य उस दिव्य सत्यका पता पा जायँगे जो हमारी सारी समस्याओंको हल कर देगा और हम अपने स्वरूपभूत अक्षय और अविनाशी सुखको पाकर सदाके लिये कृतकृत्य हो जायँगे।

# समताकी महिमा

( लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका )

शास्त्रोंमें साधनकालसे लेकर सिद्धिकालपर्यन्त समताकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है । कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोग—सभीमें समता अवश्य होनी चाहिये । समता ही सिद्धिकी कसौटी है । परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद तो सम्पूर्ण पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणियोंमें सर्वत्र स्वाभाविक ही पूर्णतया समता आ जाती है और साधनकालमें भी जिस साधकमें जितनी समता अधिक होती है, वह उतना ही परमात्माके समीप पहुँचा होता है । जिसमें जितनी विषमता है, वह उतना ही दूर है । या यों कहिये, जिस साधकमें जितना राग-द्वेष कम है, उतना ही वह परमात्माके समीप है और जितना राग-द्वेष अधिक है, उतना ही वह दूर है । इस विषयका गीतामें विशेष-रूपसे प्रतिपादन किया गया है । जबतक राग-द्वेष वर्तमान हैं, तबतक कोई भी न तो योगी है, न भक्त है और न ज्ञानी ही है । राग-द्वेषके अभावसे ही कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगकी सिद्धि होती है । कर्मयोगकी सिद्धिके लिये भगवान्‌ने गीतामें स्थितप्रज्ञके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
( २ । ६४-६५ )

‘परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है । अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न-चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है ।’

भक्तियोगमें भी राग-द्वेषसे रहित होनेकी बात कही है—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥
( ७ । २७-२८ )

‘हे भरतवंशी अर्जुन ! संसारमें इच्छा (राग) और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादिद्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं । परंतु निष्काम-भावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढनिश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं ।’

एवं ज्ञानयोगीके लिये भी भगवान्‌ने राग-द्वेषके त्यागकी बात कही है—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
( १८ । ५०-५१ )

‘जो कि ज्ञानयोगकी परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्य-सिद्धिको जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है, उस प्रकारको हे कुन्तीपुत्र ! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ । विशुद्ध बुद्धिसे युक्त पुरुष शब्दादि विषयोंका त्याग करके और सात्त्विक धारणाशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके तथा राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके ( ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है )।’

इतना ही नहीं, जबतक राग-द्वेष विद्यमान हैं, तब-

तक कोई भी साधन सिद्ध नहीं होता; इसलिये इन दोनोंको मारनेके लिये भगवान् विशेष जोर देकर कहते हैं—

**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।**
**तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥**
**( ३ । ३४ )**

'इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।'

क्योंकि जबतक राग-द्वेष है, तबतक विषमता है और जबतक विषमता है, तबतक मनुष्य परमात्मासे बहुत दूर है। परमात्माकी प्राप्तिमें आरम्भसे लेकर अन्ततक समताकी आवश्यकता है। कोई भी साधन क्यों न हो, बिना समताके उस साधनकी सिद्धि नहीं हो सकती। कर्मयोगका साधन बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

**योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।**
**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥**
**( २ । ४८ )**

'हे धनञ्जय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर; समत्व ही योग कहलाता है।'

भगवान्‌ने सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें भी समताका उल्लेख किया है ( १२ । १८-१९ ) और भक्तियोगके साधकोंके लिये इन्हीं गुणोंके सेवनकी बात कहकर उस साधकको भगवान्‌ने अपना अतिशय प्रिय बतलाया है—

**ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।**
**श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥**
**( १२ । २० )**

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

इसी प्रकार ज्ञानयोग ( सांख्ययोग ) के साधनमें भी समताकी आवश्यकता सिद्ध की है—

**यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।**
**समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥**
**( २ । १५ )**

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है।'

**ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।**
**सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥**
**संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।**
**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥**
**( १२ । ३-४ )**

'परंतु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य-अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

साधन करते-करते जब साधकमें समस्त पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणियोंके प्रति पूर्ण समता आ जाती है, तभी वह सिद्ध माना जाता है। पूर्णतया समता आये बिना कोई भी सिद्ध योगी, सिद्ध भक्त या सिद्ध ज्ञानी नहीं समझा जा सकता।

जहाँ भगवान्‌ने उच्च कोटिके योगीके लक्षण बतलाये हैं, वहाँ सर्वत्र उसकी समता दिखलायी है—

**जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।**
**शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥**
**ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।**
**युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥**

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
( ६ । ७—९ )

'सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है—ऐसा कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

यहाँ शीत-उष्ण, लोष्ट, अश्म, काञ्चन, 'पदार्थ' हैं; सुख-दुःख 'भाव' हैं; मान-अपमान 'क्रिया' हैं और सुहृद्, मित्र, वैरी आदि 'प्राणी' हैं।

जो भक्तिके द्वारा परमात्माको प्राप्त होते हैं, उनमें भी इसी प्रकार पूर्णतया समता आ जाती है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
( १२ । १८ )

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है ( वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है )।'

यहाँ शत्रु-मित्र 'प्राणी' हैं, मान-अपमान 'क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ' हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं।

इसी प्रकार जो ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त होते हैं, उन गुणातीत पुरुषोंमें भी पूर्णतया समता आ जाती है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
( १४ । २४-२५ )

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला; मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला; ज्ञानी; प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है; जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

यहाँ भी सुख-दुःख 'भाव' हैं, लोष्ट, अश्म, काञ्चन 'पदार्थ' हैं, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान 'क्रिया' हैं, शत्रु-मित्र 'प्राणी' हैं और प्रिय-अप्रिय—ये पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणी सभीके वाचक हैं।

यहाँ दिखलाना यह है कि कर्मयोगी, भक्तियोगी, ज्ञानयोगी—सभी सिद्धोंमें सर्वत्र पूर्ण समता आ जाती है अर्थात् इन सभीकी सभी पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणियोंमें पूर्णतया समता हो जाती है।

इस संसारमें बहुत-से महापुरुष हुए हैं। उनमें कितने ही तो कर्मयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए हैं—जैसे जनकादि ( गीता ३ । २० ); कितने ही भक्तिके द्वारा—जैसे अम्बरीष आदि; और कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा—जैसे शुकदेव आदि। इनके चरित्र शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं। ज्ञानयोगके द्वारा प्राप्त हुए महापुरुषोंमें जडभरत एक बहुत ही उच्चकोटिके महापुरुष हुए हैं, उनकी जीवनी संसारमें प्रसिद्ध है। ज्ञानयोगके द्वारा गुणातीत पुरुषके जो लक्षण गीता अध्याय १४ में २२ से २५ तकके श्लोकोंमें बतलाये गये हैं, वे महात्मा जडभरतमें अक्षरशः पाये जाते थे। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण आदिमें इनकी कथा विस्तारसे आती है। यहाँ संक्षेपमें लिखी जाती है—

आङ्गिरस गोत्रमें उत्पन्न एक सद्गुणसम्पन्न सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण थे। उन्हींके यहाँ जडभरतका जन्म हुआ था। ये 'भरत' नामसे प्रसिद्ध थे; लोकमें जडवत् विचरा करते थे, इसलिये लोग इनको 'जडभरत' कहते थे। कुछ बड़े होनेपर उनके पिताने उनका शास्त्रानुसार उपनयन-संस्कार भी करा दिया। उन्होंने इनको विद्या पढ़ानेकी बहुत चेष्टा की; किंतु ये जान-बूझकर पढ़ना नहीं चाहते थे, इसलिये घरवाले इन्हें पढ़ा नहीं सके। वेद पढ़ानेकी बात तो दूर रही, केवल एक गायत्री-मन्त्र भी नहीं पढ़ा सके। थोड़े दिनों बाद उनके पिता परलोक सिधार गये, तब उनकी माता उनको अपनी सौतको सौंपकर अपने पतिके साथ सती हो गयी। उसके बाद इनकी बड़ी माताके पुत्रोंने इनको पढ़ानेका आग्रह छोड़ दिया और इनकी उपेक्षा-सी कर दी।

तदनन्तर जडभरत उन्मत्तकी-भाँति रहने लगे। उन्हें मानापमानका कुछ भी विचार नहीं था। लोग उन्हें पागल, मूर्ख और बधिर कहते तो वे उसे स्वीकार कर लेते थे। कोई भी उनसे काम कराना चाहते तो उनके इच्छानुसार कर दिया करते और उसके बदलेमें जो कुछ भी अच्छा-बुरा भोजन मिल जाता, वही खा लिया करते। उन्हें अन्य किसी कारणसे उत्पन्न न होनेवाले स्वतःसिद्ध केवल विज्ञानानन्दस्वरूप आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी थी; इसलिये मानापमान, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे होनेवाले सुख-दुःख आदिमें उन्हें देहाभिमानकी स्फूर्ति नहीं होती थी। वे सरदी, गरमी, वर्षा और आँधीके समय साँडके समान नंगे पड़े रहते। उनके सम्पूर्ण अङ्ग स्थूल और पुष्ट थे। उनका ब्रह्मतेज पृथ्वीपर लोटने, उबटन न मलने और स्नान न करनेके कारण शरीरपर धूलि जम जानेसे धूलिसे ढके हुए महामूल्य मणिके समान छिपा हुआ था। वे अपनी कमरमें मैला-कुचैला कपड़ा बाँधे रहते थे, उनका यज्ञोपवीत भी बहुत मैला हो गया था। इसलिये अज्ञानीलोग इन्हें 'यह कोई द्विज है', 'यह अधम ब्राह्मण है' इस प्रकार कहकर तिरस्कार किया करते थे; किंतु वे इसकी कोई परवा न करके स्वच्छन्द विचरा करते थे।*

इस तरह दूसरोंकी मजदूरी करके पेट पालते देख इनके भाइयोंने इनको खेतकी क्यारियाँ ठीक करनेमें लगा दिया तो वे उस कार्यको भी करने लगे। परंतु उन्हें इस बातका कुछ भी ध्यान नहीं था कि उन क्यारियोंकी भूमि समतल है या ऊँची-नीची, अथवा वह छोटी है या बड़ी। और उनके भाई उन्हें चावलकी कनी, भूसी, घुने हुए उड़द अथवा बरतनोंमें लगी हुई अनाजकी खुरचन आदि जो कुछ भी दे देते, उसीको वे अमृतके समान समझकर खा लिया करते थे।

एक समय एक डाकुओंके सरदारने पुत्रकी कामनासे भद्रकालीको मनुष्यकी बलि देनेका निश्चय किया। दैववश उनके नौकरोंने आङ्गिरसगोत्रीय ब्रह्मकुमार जडभरतको इसके लिये पकड़ लिया और रस्सियोंसे बाँधकर उन्हें देवीके मन्दिरपर ले आये। फिर रस्सी खोलकर उन्हें विधिपूर्वक स्नान करा वस्त्राभूषण पहनाये और नाना प्रकारके चन्दन, माला, तिलक आदि लगाकर विभूषित किया। इसके बाद भोजन कराकर धूप, दीप, माला, खील, पत्ते, अङ्कुर, फल और नैवेद्य आदि सामग्रीके सहित बलिदानकी विधिसे पूजा करके गान, स्तुति और मृदङ्ग-ढोल आदिका महान् शब्द करते हुए उनको भद्रकालीके सामने नीचा सिर कराकर बैठा दिया। तदनन्तर दस्युराजके तामसी पुरोहितने उस नर-पशुके रुधिरसे देवीको तृप्त करनेके लिये देवी-मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित एक तेज तलवार उठायी। उन साक्षात् ब्रह्मभावको प्राप्त हुए, वैरहीन,

---

* नित्यनिवृत्तनिमित्तस्वसिद्धविशुद्धानुभवानन्दस्वात्मलाभाधिगमः सुखदुःखयोर्द्वन्द्वनिमित्तयोरसम्भावितदेहाभिमानः ॥ ९ ॥ शीतोष्णवातवर्षेषु वृष इवानावृताङ्गः पीनः संहननाङ्गः स्थण्डिलसंवेशनानुन्मर्दनामज्जनरजसा महामणिरिवानभिव्यक्तब्रह्मवर्चसः कुपटावृतकटिरुपवीतेनोरुमषिणा द्विजातिरिति ब्रह्मबन्धुरिति संज्ञयातज्ज्ञजनावमतो विचचार।

समस्त प्राणियोंके सुहृद् ब्रह्मर्षिकुमार जडभरतकी बलि देते देखकर देवी भद्रकालीके शरीरमें जडभरतके दुःसह ब्रह्मतेजसे दाह होने लगा, और वे एकाएक मूर्ति चीरकर प्रकट हो गयीं। उन्होंने क्रोधमें पुरोहितके हाथसे अभिमन्त्रित तलवारको छीन लिया और उसीसे उन सारे मनुष्यघातक पापियोंके सिर उड़ा दिये। सच है, महापुरुषोंके प्रति किया हुआ अत्याचाररूप अपराध इसी प्रकार ज्यों-का-त्यों अपने ही ऊपर पड़ता है। उस समय देहाभिमानशून्य, समस्त प्राणियोंके सुहृद् वैरहीन भगवद्-शरणापन्न महात्मा जडभरतको अपने सिर कटनेका अवसर आनेपर भी किसी प्रकारकी व्याकुलता नहीं हुई—वस्तुतः इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

एक बार सिन्धुसौवीर देशके राजा रहूगण पालकीपर चढ़कर आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये कपिलदेवजीके आश्रम-पर जा रहे थे। रास्तेमें इक्षुमती नदीके किनारे पहुँचनेपर एक कहारकी और आवश्यकता पड़ी। तब कहारोंके जमादारने जडभरतको पालकी ढोनेयोग्य हृष्ट-पुष्ट और जवान देखकर बलात्कारसे पालकीमें लगा दिया। महात्मा भरतजी बिना कुछ प्रतिकार किये चुपचाप पालकी ढोने लगे। कोई जीव पैरों तले न दब जाय, इस बातको खयाल करके वे धरतीको देखते हुए पग धर रहे थे। इससे दूसरे कहारोंके साथ उनकी चालका मेल नहीं बैठा। पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी; अंदर बैठे राजाको धक्के-से लगने लगे। तब राजाने कहा—अरे कहारो! अच्छी तरह चलो; पालकीको इस प्रकार ऊँची-नीची क्यों करते हो? इसपर कहारोंने कहा कि हम तो ठीक चल रहे हैं; यह जो नया कहार है, यही ठीक नहीं चलता; इसीके कारण पालकी ऊँची-नीची हो रही है।

इसपर राजाको क्रोध आ गया। उन्होंने जडभरतको ठीक चलनेके लिये कहा; किंतु जडभरतने मानो कुछ सुना ही नहीं। अपनी उसी चालसे चलते रहे। राजाने पुनः क्रोधपूर्वक कहा—अरे, क्या तू जीता ही मर गया? तू जानता नहीं, मैं तेरा स्वामी हूँ? तू मेरा निरादर करके इस प्रकार मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन कर रहा है! अच्छा, मैं तेरा अभी इलाज किये देता हूँ। तब तेरे होश ठिकाने आ जायँगे।

राजा रहूगण वैसे बुद्धिमान् तथा सत्-हृदयके पुरुष थे; परंतु क्रोध और अभिमानवश उन्होंने बहुत-सी अनाप-शनाप बातें कहीं और जडभरतका बड़ा तिरस्कार किया। किंतु राजाकी ऐसी मन्दमति देखकर भी सभी प्राणियोंके सुहृद् ब्रह्मभूत जडभरतजीके मनमें कुछ भी विकार नहीं हुआ। वे मुसकराते हुए बोले—'राजन्! तुम जो कुछ कह रहे हो, सो ठीक ही है; किंतु मेरा इस शरीरसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है; इसलिये मुझे न तो भार ढोनेका क्लेश है और न मार्ग चलनेका परिश्रम ही। स्थूलता, कृशता, आधि, व्याधि, भूख-प्यास, भय, कलह, इच्छा, बुढ़ापा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान और शोक—ये सब देहाभिमानी जीवमें रहते हैं; मुझमें तो इनका लेश भी नहीं है। राजन्! तुमने जो जीने-मरनेकी बात कही, सो जितने भी विकारी पदार्थ हैं, उन सभीमें नियमित-रूपसे ये दोनों बातें देखी जाती हैं; क्योंकि वे सभी आदि-अन्तवाले हैं। राजन्! जहाँ स्वामी-सेवकभाव स्थिर हो, वहीं आज्ञापालनादिका नियम भी लागू हो सकता है। तुम्हारे और मेरे बीचमें तो यह सम्बन्ध है नहीं। परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो किसे स्वामी कहें और किसे सेवक? फिर भी यदि तुम्हें स्वामित्वका अभिमान है तो कहो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ? राजन्! मैं तो उन्मत्त और जडके समान अपनी ही स्थितिमें रहता हूँ; फिर मेरा इलाज करके तुम्हें क्या हाथ लगेगा? यदि मैं वास्तवमें जड और प्रमादी ही हूँ, तो भी मुझे शिक्षा देना पिसे हुएको पीसनेके समान व्यर्थ ही है।'

इस प्रकार कहकर जडभरत मौन हो गये। उनका अज्ञान सर्वथा नष्ट हो चुका था, इसलिये वे परम

शान्त हो गये थे। उन्होंने भोगद्वारा प्रारब्धका क्षय करनेके लिये फिर पालकी उठा ली; किंतु राजा रहूगण उनका हृदयग्रन्थिका छेदन करनेवाला शास्त्रसम्मत उपदेश सुनकर उत्तम श्रद्धाके कारण तत्काल पालकीसे उतर पड़े और उनके चरणोंपर सिर रखकर अपना अपराध क्षमा कराते हुए बोले—'देव! आपने द्विजोंका चिह्न यज्ञोपवीत धारण कर रक्खा है; बतलाइये, इस प्रकार गुप्तरूपसे विचरनेवाले आप कौन हैं? क्या आप दत्तात्रेय आदि अवधूतोंमेंसे कोई हैं? आपका जन्म कहाँ हुआ है और यहाँ कैसे पधारे हैं? मैं तो योगेश्वर भगवान् कपिलसे यह पूछने जा रहा था कि इस लोकमें एकमात्र शरण लेने योग्य कौन हैं; सो आप वे कपिल-मुनि ही तो नहीं हैं?'

इसपर जडभरतजीने अपना परिचय देते हुए कहा—'मैं पूर्वजन्ममें 'भरत' नामका राजा था। मैं इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण विषयोंसे विरक्त होकर भगवान्की आराधनामें ही लगा रहता था, तो भी एक मृगमें मेरी आसक्ति हो जानेसे मुझे परमार्थसे भ्रष्ट होकर दूसरे जन्ममें मृग बनना पड़ा। किंतु भगवान्की आराधनाके प्रभावसे उस मृगयोनिमें भी मेरी पूर्वजन्मकी स्मृति लुप्त नहीं हुई। इसीलिये अब इस ब्राह्मणयोनिमें मैं जन-संसर्गसे डरकर सर्वदा असङ्गभावसे गुप्तरूपमें ही विचरता रहता हूँ। मनुष्यको विरक्त महापुरुषोंके सत्सङ्गसे प्राप्त ज्ञानरूप तलवारके द्वारा इस लोकमें ही अपने मोह-बन्धनको काट डालना चाहिये; फिर श्रीहरिकी लीलाओंके कथन और श्रवणसे भगवत्स्मृति बनी रहनेके कारण वह सुगमतासे ही संसारमार्गको पार करके भगवान्को प्राप्त कर सकता है। रहूगण! तुम भी इस संसारमार्गमें भटक रहे हो; इसलिये अब प्रजाको दण्ड देनेका कार्य छोड़कर समस्त प्राणियोंके सुहृद् हो जाओ और विषयोंमें अनासक्त होकर भगवत्सेवासे तीक्ष्ण किये हुए ज्ञानके द्वारा इस मार्गको पार कर लो।'

इस तरह उन परम प्रभावशाली स्वाभाविक दयालु ब्रह्मर्षिपुत्र जडभरतजीने अनेकों युक्तियोंद्वारा शङ्का-समाधान करते हुए सिन्धुनरेश रहूगणको आत्मतत्त्वका उपदेश किया। तब राजा रहूगणने दीनभावसे उनके चरणोंकी वन्दना की। महात्मा भरतजीके सत्सङ्गसे उनको भी परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो गया। फिर महात्मा जडभरतजी परिपूर्ण समुद्रके समान शान्तचित्त और उपरतेन्द्रिय होकर पृथ्वीपर विचरने लगे।

महात्मा जडभरतके इतिहासमें गुणातीत महापुरुषके लक्षण अक्षरशः घटते हैं। यहाँ केवल गीताके चौदहवें अध्यायमें वर्णित २४ वें, २५ वें श्लोकोंके भावोंका इनके जीवनमें दिग्दर्शन कराया जाता है।

देवी भद्रकालीके सामने जडभरतजीकी बलि देनेके लिये जब पुरोहित तलवारसे इन्हें मारने लगा, तब तो इन्हें कोई दुःख नहीं हुआ और देवीने प्रकट होकर इनपर अत्याचार करनेवालोंको मार डाला, तब उनको कोई प्रसन्नता नहीं हुई। ये अपने आत्मस्वरूपमें स्थित थे और इनको सुख-दुःख सभी समान थे। जब-जब इन्हें सुख-दुःखका अवसर प्राप्त हुआ, तब-ही-तब ये अपने आत्मामें अटल स्थित रहे और सुख-दुःखादि विकारोंसे विचलित नहीं हुए। क्योंकि वे 'समदुःखसुखः स्वस्थः' थे।

दूसरे लोग इनसे काम करवाकर जो कुछ दे दिया करते, उसीको लेकर ये सन्तुष्ट हो जाया करते थे; इनके लिये पत्थर, मिट्टी और सोना सब समान था। क्योंकि वे 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' थे।

राजा रहूगणने इनके साथ पहले अप्रिय (प्रतिकूल) व्यवहार किया और फिर उनको पहचान लेनेपर प्रिय (अनुकूल) व्यवहार किया। किंतु महात्मा जडभरतजीको न तो प्रतिकूल व्यवहारसे शोक हुआ और न अनुकूलसे हर्ष ही। वे आत्मज्ञानको प्राप्त कर चुके थे, इसलिये सर्वथा निर्विकार, सम और स्थिरचित्त रहे। क्योंकि वे 'तुल्यप्रियाप्रियो धीरः' थे।

राजा रहूगणने पहले उनकी बहुत प्रकार निन्दा की और पहचान लेनेपर उनकी बड़ी स्तुति की; किंतु महात्मा जडभरतके चित्तमें उस निन्दासे तो कोई दुःख नहीं हुआ और स्तुतिसे कोई प्रसन्नता नहीं हुई। क्योंकि वे 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' थे।

दस्युराजके नौकर पहले जडभरतजीको रस्सियोंसे बाँधकर देवीके मन्दिरमें ले गये और बादमें बलि देनेके लिये इनको वस्त्राभूषण पहनाकर धूप, दीप, नैवेद्य आदिसे इनकी पूजा की; किंतु रस्सी आदिसे बाँधनेके अपमानसे तो इनको कोई दुःख नहीं हुआ तथा वस्त्राभूषण और धूप-दीप आदिके द्वारा पूजा-सम्मान करनेपर कोई सुख नहीं हुआ। क्योंकि वे तो 'मानापमानयोस्तुल्यः' थे।

दस्युराजने इनको बलि देनेका निश्चय करके वैरीका काम किया और देवी भद्रकालीने इनके प्राण बचानेके लिये बलि देनेवाले शत्रुओंको मारकर मित्रका काम किया। किंतु जडभरत न तो मारनेवालोंपर रुष्ट हुए और न बचानेवाली देवीपर प्रसन्न ही हुए। क्योंकि वे 'तुल्यो मित्रारिपक्षयोः' थे।

इसके अतिरिक्त, जडभरतजीद्वारा जो कोई भी क्रिया होती थी, उसमें अभिमानका लेशमात्र भी नहीं रहता था। इनके भाई इन्हें खेतकी रखवालीके लिये या चावलोंकी क्यारियोंकी भूमि समतल करनेके लिये लगा देते थे तो ये निरभिमानतापूर्वक उनके इच्छानुसार किया करते थे और इसी प्रकार दूसरे लोग भी जो काम कराते, उनके इच्छानुसार कर दिया करते थे। इतना ही क्यों, दस्युराजके नौकर जब इन्हें बाँधकर ले गये तब भी इन्होंने कोई आपत्ति नहीं की और राजाके आदमी पकड़कर ले गये तथा बलात् पालकीमें लगा दिया, तब भी ये निरभिमानतापूर्वक पालकीको ही बड़ी प्रसन्नतासे ढोने लगे। इनकी क्रियामें कहीं भी किञ्चिन्मात्र भी कर्तापनका अभिमान नहीं था; क्योंकि ये 'सर्वारम्भपरित्यागी' थे।

गीताके चौदहवें अध्यायमें भगवान्‌ने 'गुणातीतः स उच्यते' (१४। २५) कहकर जो गुणातीतके लक्षण बतलाये हैं, वे सभी महात्मा जडभरतजीमें अक्षरशः घटते थे। ऊपर जो चौदहवें अध्यायके २४ वें और २५ वें श्लोकोंके भावोंका इनके जीवनमें दिग्दर्शन कराया गया है, इसी प्रकार २२ वें और २३ वें श्लोकोंमें वर्णित लक्षण भी इनमें घटा लेने चाहिये।

इस उपाख्यानपर निवृत्तिप्रिय ज्ञानमार्गी साधकोंको विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये। उन्हें गुणातीत अवस्था प्राप्त करनेके लिये महात्मा जडभरतजीको आदर्श मानकर उनके गुण और आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये।

कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदि साधन करनेवाले सभी कल्याणकामी भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि समस्त पदार्थ, क्रिया, भाव और प्राणियोंमें पूर्णतया समता प्राप्त करनेके लिये प्रारम्भसे ही समभावको लक्ष्यमें रखते हुए तत्परतापूर्वक साधनकी चेष्टा करनी चाहिये।

## नन्दनन्दनका ध्यान

करु मन, नंदनँदनको ध्यान।
यहि अवसर तोहिं फिर न मिलैगौ, मेरौ कह्यौ अब मान॥
घूँघरवारी अलकैं मुखपै, कुंडल झलकत कान।
नारायन अलसाने नैना, झूमत रूपनिधान॥

# श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

( ३८ )

किसीने नहीं जाना—व्रजेशतनयने वंशीवादनकी शिक्षा कब, किससे ली। एक दिन सहसा वह अमृतपूरका प्रवाह बह चला एवं समस्त व्रजवासी उसमें निमग्न हो गये। कुछ क्षणोंके लिये सबकी चेतना विलुप्त हो गयी; जब वे प्रकृतिस्थ हुए, तब भी अपने-आप निर्णय नहीं कर पाये कि यह क्या वस्तु है! कतिपय गोपसुन्दरियोंने अवश्य देखा—प्रस्फुटित पीतझिंटी पुष्पोंकी झुरमुटको परिवेष्टितकर गोपशिशु आनन्द-कोलाहल कर रहे हैं और उसके अन्तरालमें अपनेको छिपाये, अपने बिम्बारुण अधरोंपर हरित बाँसकी वंशी धारण किये श्रीयशोदाके नीलमणि स्वर भर रहे हैं। अपलक नेत्रोंसे जड पुत्तलिकाकी भाँति वे तो खड़ी-खड़ी देखती रह गयीं; पर उनके प्राणोंकी अनुभूतिका स्पर्श पाकर मानो पवन पुनः द्विगुणित चञ्चल हो उठा और उसने ही क्षणभरमें इतने विस्तृत व्रजपुरमें, व्रजपुरके प्रत्येक आवासमें, आवासके कोने-कोनेमें यह सूचना भर दी कि यह तो व्रजरानीके नीलमणिकी—नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र-की बजायी हुई मोहन वंशीध्वनि है!

यह ध्वनि वृन्दावनको झङ्कृत करके ही नहीं रह गयी। अन्तरिक्षको भी आत्मसात् करने ऊपर उठी, पातालको प्रकम्पित करने नीचे चली गयी। उधर तो मेघसमूह सहसा रुद्ध हो गये। स्वर्गायक तुम्बुरुकी दशा विचित्र हो गयी, आश्चर्यमें निमग्न विस्फारित नेत्रोंसे बारंबार वृन्दावनकी ओर झाँककर वह इस उन्मद नादका अनुसन्धान पाना चाहता था। सनक-सनन्दन प्रभृति ऋषिवर्गका चिर-अभ्यस्त ध्यान टूट गया, विक्षिप्तचित्त होकर वे इस मधुर स्वरमें डूबने-उतराने लगे। विधाताके आश्चर्यका भी पार नहीं। और उधर दानवेन्द्र बलिकी उत्सुकताकी सीमा नहीं; चिरशान्तस्वभाव बलि आज अतिशय चञ्चल हो उठे। भोगीन्द्र अनन्तदेव भी आज घूर्णित होने लगे। समस्त ब्रह्माण्डको भेदन करती हुई यह ध्वनि सर्वत्र परिव्याप्त हो गयी, सब ओर रससिन्धु उमड़ चला—

> रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं
> कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरुं
> ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान्
> विस्मापयन्वेधसम्।
> औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन्
> भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
> भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो
> बभ्राम वंशीध्वनिः॥
>
> (श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धुः)

व्रजपुर वृन्दावनका प्रत्येक अधिवासी वहीं आ पहुँचा, जहाँसे यह उन्मद नाद प्रसरित हो रहा था। किंतु श्रीकृष्णचन्द्र यह भीड़ देखकर सङ्कुचित हो गये, वंशीको अधरोंसे हटाकर सङ्कोच छिपानेके उद्देश्यसे किसी अन्य बाल्यक्रीड़ाका उपक्रम करने चले। इतनेमें व्रजरानी भी आ गयीं। उनके प्राणोंको भी इस मोहनध्वनिने स्पर्श किया था तथा उत्कण्ठाके प्रबल आवेगमें बहकर ही वे यहाँ आयी थीं। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रको अपने लज्जा-निवारणका समुचित स्थान प्राप्त हो गया। वे दौड़कर जननीके कण्ठसे जा लगे, उनके अञ्चलमें अपना मुख छिपा लिया। व्रजरानीके नेत्र छल-छल करने लगे।

अब आजसे, इस क्षणसे गोपसुन्दरियोंकी दिनचर्यामें एक और नवीन कार्यक्रम बना। श्रीकृष्णचन्द्र जिसे जहाँ मिलते, बस, उसकी ओरसे एक ही प्रार्थना होती—'मेरे लाल! तनिक-सी वंशी तो बजा दे।' विशेषतः जब श्रीकृष्णचन्द्र व्रजेश्वरके, व्रजरानीके अङ्कको सुशोभित करते होते, उस समय दल-की-दल व्रजसुन्दरियाँ एकत्र हो जातीं और कहने लगतीं—

हे कृष्ण ! मातृकुचचूचुकचूषणेऽपि
नालं यदेतदधरोष्ठपुटं तवाऽऽसीत्।
तेनाद्य ते कतिपयेषु दिनेष्वकस्मात्
कस्माद् गुरोरधिगतः कलवेणुपाठः ॥
( श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः )

'कृष्णचन्द्र ! मेरे नीलमणि ! विचित्र बात है। भला देखो, कहाँ तो तुम्हारे ये सुकोमल, नन्हे-से अधर ओष्ठपुट जननीके स्तनपानके लिये भी समर्थ न थे, और कहाँ उसी अधरपर वंशी धारणकर इन ही कुछ दिनोंमें इतनी मधुर वंशी बजाना तुम सीख गये ! अरे बताओ तो सही, इतने अल्प समयमें अकस्मात् इस मधुर वंशीवादनकी शिक्षा तुमने किस गुरुसे प्राप्त कर ली !'

निर्मञ्छनं तव नयामि मुखस्य तात
वेणुं पुनर्ललन ! वादय वादयेति।
( श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः )

'वत्स ! मेरे लाल ! तेरे चन्द्रमुखकी बलैया लेती हूँ। तू फिर वंशी बजा दे; बजा दे, साँवरे, बजा दे !'

श्रीकृष्णचन्द्र भी व्रजपुरन्ध्रियोंका यह प्रोत्साहन पाकर बाबा-मैयाके समक्ष वंशीमें रस भरने लगते तथा वंशी उनके अधरोंका रस पाकर स्वयं रसमयी बनकर वृन्दावनमें रस-सरिता प्रवाहित कर देती—

ऊचुर्यदा स्वजननीजनकोपकण्ठे
तं वादयन्नथ तदा सरसीकरोति ॥
( श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः )

उस समय ऊपर आकाशका दृश्य भी देखने ही योग्य होता। अन्य सुर-समुदायकी बात दूर, हंसवाहन चतुर्मुख स्रष्टाकी प्रेमविकृति दर्शनीय होती—

अष्टाभिः श्रुतिपुटकैर्नववैणवकाकलीं कलयन्।
शतधृतिरपि धृतिमुक्तो मरालपृष्ठे मुहुर्लुठति ॥
( विदग्धमाधव )

'अपने आठ कर्णपुटोंके द्वारा उस नवीन मधुरास्फुट ध्वनिका रस-पान करते हुए ब्रह्मा विभोर होने लगते; उनका धैर्य छूट जाता तथा वे वहीं हंसके पृष्ठदेशपर प्रेमविवश बारंबार लोटने लगते।'

सुरेन्द्रके सहस्र नेत्रोंसे अश्रुविन्दु झरने लगते। सरलमति गोप आश्चर्यचकित होकर देखते—गगन मेघशून्य है, फिर भी बूँदें बरस रही हैं; शीतल सुखद वृष्टि हो रही है; वन, प्रान्तर आर्द्र होते जा रहे हैं; वृन्दावनकी भूमि किसी अभिनव वर्षाधारासे सिक्त हो रही है—

चित्रं वारिधरान् विनापि तरसा यैरद्य धारामयै-
र्दूरात् पश्यत देवमातृकमभूद् वृन्दाटवीमण्डलम्।
( विदग्धमाधव )

नन्हे-से नन्दनन्दनकी वेणुध्वनिसे वृन्दाकाननमें स्थावर-जङ्गमोंका स्वभाव-वैपरीत्य तो अनिवार्य घटना होती—

द्रवति शिखरवृन्देऽचञ्चले वेणुनादै-
र्दिशि दिशि विसरन्तीर्निर्झरापः समीक्ष्य।
तृषितखगमृगाली गन्तुमुत्का जडा तैः
स्वयमपि सविधाप्ता नैव पातुं समर्था ॥
( श्रीगोविन्दलीलामृतम् )

'वेणुनादका स्पर्श पाते ही स्थिर पर्वतश्रेणियोंके शिखरसमूह द्रवित हो जाते, पाषाण तरल बनकर चारों ओर बह चलते, अनेक निर्झरोंका सृजन हो जाता। उन्हें देखकर तृषित विहङ्गमकुल, मृगयूथ पीनेके लिये उत्कण्ठित हो जाता, चाहता कि दौड़कर जा पहुँचे; किंतु उसके अङ्ग अवश हो जाते, उनमें एक विचित्र सुखमयी जडता आ जाती तथा स्वयं निकट आयी हुई उस वारिधाराका पान करनेकी सामर्थ्य भी वे खो बैठते।'

वंशीनादैः सरसि पयसि प्रापिते ग्रावधर्मं
हंसीः सन्दानितपदयुगाः स्तम्भिताङ्गी रिरंसुः।
आसन्नीशाः स्वयमपि जडा बद्धपादा न गन्तुं
ताभ्यो दातुं न बिसशकलं नापि भोक्तुं मरालाः ॥

'वंशीनादका चमत्कारी प्रभाव सरोवरके जलको जमाकर प्रस्तरका रूप दे देता। सरोवरमें संतरण करते हुए हंसिनीयूथके पैर भी जमे हुए जलके संसर्गमें

आकर बँध जाते, साथ ही ध्वनिका मधुपान कर उनके अन्य समस्त अङ्ग भी निश्चल हो जाते। यही दशा हंसकुलकी होती। घन होकर प्रस्तररूपमें परिणत जलके उज्ज्वल तलमें उनके पादयुगल भी बद्ध हो जाते, वैसी ही जडता उनके अङ्गोंमें भी आ जाती। अन्तस्तलमें हंसिनीको अपना प्यार समर्पित करनेकी वासना लिये, अपनी सङ्गिनीको प्रेमोपहार दान करने एवं स्वयं भोजन करनेके उद्देश्यसे चञ्चुपुटोंमें मृणालखण्ड धारण किये वह मरालकुल भी जहाँका तहाँ रुद्ध हो जाता। न तो मरालीको ही मृणाल प्रदान कर पाता, न स्वयं ही भक्षण कर पाता।'

पहले तो श्रीकृष्णचन्द्र वंशी बजानेमें सङ्कोच करते, व्रजसुन्दरियोंका अतिशय प्रेमिल आग्रह होनेपर ही, जननीकी मनुहार पानेपर ही बजाते; पर क्रमशः उनका सङ्कोच शिथिल हो गया। फिर तो यमुना-पुलिन रह-रहकर मोहन-वंशीनादसे निनादित होने लगा तथा जितने क्षण वह स्वरलहरी काननको गुञ्जित करती रहती, उतने समयमें वहाँ न जाने क्या-से-क्या होता रहता—

नँदलाल बजाई बाँसुरी श्रीजमुनाके तीर री।
अधर कर मिल सप्त स्वर सों उपजत राग रसाल री॥
व्रजजुवती धुनि सुनि उठ धाईं, रही न अंग सँभार री।
छूटी लट लपटात बदन पर, टूटी, मुक्ता माल री॥
बहत न नीर, समीर न डोलत बृंदा बिपिन सँकेत री।
सुनि थावर अचेत चेतन भए, जंगम भए अचेत री॥
अफल फले, फल फूल भए री, जरे हरे भए पात री।
उमग प्रेम जल चल्यो सिखर तें, गरे गिरिन के गात री॥
तृन न चरत मिरगा मिरिगी दोउ, तान परी जब कान री।
सुनत गान गिरि परे धरनि पर, मानो लागे बान री॥
सुरभी लाग दियो केहरि को, रहत श्रवन हीं डार री।
भेक भुजंगम फन चढ़ि बैठे, निरखत श्रीमुख चारु री॥
खग रसना रस चाख बदत नहिं, नैन मूँदि मुनि धार री।
चाखत फलहिं न परे चोंच ते, बैठे पाँख पसार री॥
सुर नर असुर देव सब मोहे, छाए ब्योम बिमान री।
चत्रभुजदास कहौ को न बस भए या मुरली की तान री॥

अस्तु, वृन्दावन आनेके कुछ ही दिनों पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्रने सर्वप्रथम इसी उन्मद वेणुनादका प्रकाश किया, मानो यहाँकी अग्रिम लीलाओंमें चिरसहचरी वंशीको अपने अधरोंपर धारणकर मङ्गलाचरण करने चले हों। साथ ही उनकी चञ्चलता भी बृहद्वनकी अपेक्षा यहाँ अतिशय बढ़ गयी। अवश्य ही चञ्चलताका क्षेत्र इस बार दूसरा है। यहाँ वे किसीके घर नहीं जाते, दधि-दुग्धका अपहरण नहीं करते, किसीके भी मटके नहीं फोड़ते। यहाँ तो कलेऊके अनन्तर सीधे वनमें या गोष्ठमें चले जाते हैं। छायाकी भाँति रोहिणीनन्दन बलराम उनका अनुसरण करते हैं, उनकी प्रत्येक चपल चेष्टाओंका अनुमोदन करते हैं, उनमें योगदानकर उनको प्रोत्साहित करते हैं। तथा वहाँ गोष्ठमें, वनमें, उनकी क्रीडाका माध्यम अब बन गये हैं—गौ, गोवत्स, वृषभ। उनके साथ विविध क्रीडा करनेमें ही मध्याह्न हो जाता है, और फिर सन्ध्या आ जाती है। इसीलिये शङ्कितचित्त व्रजराज अब स्वयं भी प्रतिदिन गो-चारणमें सम्मिलित होने लगे हैं। व्रजरानीका भी अधिकांश समय गोष्ठमें ही व्यतीत होता है। पर ऐसे चञ्चलका नियन्त्रण सम्भव जो नहीं। व्रजदम्पति देखते रह जाते हैं और श्रीकृष्णचन्द्र विश्राम करते हुए किसी विशालकाय साँड़की ग्रीवापर, पीठपर उछलकर चढ़ जाते हैं। पीछे राम उसकी पूँछ पकड़कर उमेठना आरम्भ करते हैं और वहाँ श्रीकृष्णचन्द्र उसके सींगोंको पकड़कर उसे उठकर चलनेका सङ्केत करते हैं। कभी कुछ गोवत्सोंको या गायोंको एकत्र कर लेते हैं, उन्हें अपने इच्छानुसार नचाते हैं और स्वयं नाचते हैं। दोनों भाई राजपथपर जा रहे हैं, इतनेमें शकटमें जुते बलीवर्द दीख पड़े; फिर तो उनके शृङ्गोंको पकड़कर उनसे विविध क्रीड़ा करना अनिवार्य है। भयभीत नन्दरानी कितना भी निवारण करें, व्रजेश कितना

भी समझायें; पर राम-श्याम कहाँ मानते हैं। व्रजदम्पतिकी दृष्टि अन्य ओर गयी, वे किसी अन्य कार्यमें संलग्न हुए कि बस, दोनों ही भागे और फिर निश्चित है कि वे वहीं मिलेंगे जहाँ सुदूर वनमें किञ्चित् वयस्क गोपशिशु वत्सचारण कर रहे हैं या युवक गोप गोचारणमें संलग्न हैं। अपने प्राणप्रतिम नीलमणिको, रामको इतनी दूर अकेले गये देखकर, सुनकर जननीका हृदय धक्-धक् करने लगता तथा उस दिन सन्ध्याके समय अपने भुजपाशमें बाँधकर—जबतक दोनों निद्रित नहीं हो जाते, तबतक—वे समझाती रहतीं। किंतु नीलमणिका उत्तर तो यह होता—

मैया री ! मैं गाय चरावन जैहौं।
तूँ कहि महरि नन्दबाबा सों, बड़ो भयो न डरैहौं॥
श्रीदामा लै आदि सखा सब, अरु हलधर सँग लैहौं।
दह्यौ भात काँवरि भरि लैहौं, भूख लगै तब खैहौं॥
बंसीबट की सीतल छैयाँ खेलत में सुख पैहौं।
परमानंददास सँग खेलौं, जाय जमुनतट न्हैहौं॥

उत्तर सुनकर जननीका रोम-रोम आनन्द-परिपूर्ण तो अवश्य हो जाता; पर इतने नन्हे-से नीलमणिको वे अभी वनमें गोचारण करने भेजेंगी, यह तो स्वप्नमें भी कल्पना नहीं होती। यशोदारानी किसी प्रकार प्रसङ्ग बदलकर नीलमणिको भुला पातीं।

अब श्रीकृष्णचन्द्र अपने वयके तीसरे वर्षमें प्रविष्ट हो चुके हैं। उनके शैशवके अन्तरालमें कौमार भावकी झाँकी स्पष्ट हो गयी है। उनका वस्त्र-परिधान-महोत्सव भी सम्पन्न हो चुका है। जननी अपने स्नेहसिक्त करोंसे नीलमणिको वस्त्र ( धोती ) धारण कराती हैं। उल्लासमें भरकर यत्नपूर्वक बड़े मनोयोगसे वे पहन भी लेते हैं, पर दूसरे ही क्षण उसमें बन्धनकी अनुभूतिकर स्वयं खोलकर फेंक भी देते हैं। पुनः उस सुन्दर पीताम्बरको देखकर धारण करनेकी इच्छा जाग्रत् होती है, जननीसे माँगकर स्वयं धारण करनेका प्रयास करते हैं, पर अपने हाथ धारण करनेमें कुछ अंश आवृत एवं कुछ अनावृत रह जाता है। उस समय उन्हें लज्जाका अनुभव होता है तथा और भी अधिक प्रयत्नसे वे वस्त्र धारण करने चलते हैं। प्रतिदिन ही उनके वस्त्र-परिधानकी यह मनोहर लीला होती है—

वस्त्रं दधाति जननीनिहितं प्रयत्नात्
क्षिप्रं च वन्धनधिया स्वयमुज्जहाति।
भूयस्तदर्दति बिभर्ति च यस्य चोर्ध्वं
व्रीडां विकल्प्य लघु नित्ययति स्म कृष्णः॥
( श्रीगोपालचम्पूः )

किंतु उसी पीताम्बरसे जब वे दो-तीन-चार विशालकाय वृषभोंके शृङ्गोंको एक साथ जोड़कर उन्हें खींचना आरम्भ करते हैं, उस समय भयविह्वल व्रजरानी चीत्कार कर उठती हैं; व्रजेश्वरका हृदय भी धुर-धुर करने लगता है। पर उपाय क्या हो, नीलमणि सुनते जो नहीं। प्रत्युत प्रतिदिन उनकी ऐसी चपलता बढ़ती जा रही है, मानो जननी-जनकके हृदयको कँपा देनेवाली ऐसी क्रीडामें उन्हें अधिकाधिक रस आ रहा हो। जब देखो, तभी वे गायों-से, गोवत्सोंसे, वृषभोंसे खेलते मिलेंगे। और फिर बलरामका सहयोग उन्हें प्राप्त है, अब किसका भय! जननीको सूचना देनेवाले तो दाऊ भैया ही हैं; वे ही जब सम्मिलित हैं तो चिन्ता किस बातकी। अतः रक्षाका और कोई उपाय न देखकर व्रजेश्वरने व्रजरानीसे परामर्श कर यह निश्चय किया—

यदि गोसङ्गावस्थानं विना न स्थातुं पारयतस्तर्हि
व्रजसदेशदेशे वत्सानेव तावत्सञ्चारयतामिति।
( श्रीगोपालचम्पूः )

'यदि सचमुच राम-श्याम गायोंका सङ्ग छोड़ नहीं सकते, उनके निकट रहना इन्हें इतना प्रिय है, तो फिर अच्छा यह है कि ये दोनों व्रजके निकट रहकर छोटे बछड़ोंको चराया करें।'

श्रीकृष्णचन्द्रको मनोवाञ्छित प्राप्त हो गया। बस, इतना ही विलम्ब है—ज्योतिषी मुहूर्त निश्चित करेंगे,

एवं उस दिन महर्षि शाण्डिल्य पधारकर वत्सचारण-महोत्सव सम्पन्न करेंगे।

पुरवासियोंके आनन्दका पार नहीं। राम-श्याम अपनी नित्य नूतन बाल्यभङ्गिमाओंका प्रकाश कर उनका आनन्द-वर्द्धन करते आये हैं, अपने मधुर वचन सुना-सुनाकर प्रत्येकका मनहरण करते रहे हैं। परमानन्दमें विभोर पुरवासियोंको तो यह अनुसन्धान ही नहीं था कि नीलमणि क्रमशः बढ़कर इस योग्य बन गये हैं। व्रजेश्वरका निर्णय सुनकर उनकी स्मृति जागी और उन्होंने अनुभव किया कि राम-श्यामको वत्सपालक बना देना सर्वथा उचित है। गोचारण, वत्सचारण तो गोपजातिका स्वधर्म है। सबके जीवन-सर्वस्व नीलमणिसे यदि व्रजेश्वर स्वधर्मका आचरण करवायें तो इसका समर्थन कौन नहीं करे! सबने एक स्वरसे इस योजनाका स्वागत किया। राम-श्यामके वत्सपाल बननेकी तैयारी आरम्भ हुई। अस्तु, मुहूर्त कभी निकले, पुरवासी तो अपने कल्पनाके नेत्रोंसे नीलमणिको वत्सचारण करते हुए अभीसे देखने लग गये—

एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः।
कलवाक्यैः स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः॥
(श्रीमद्भा० १०। ११। ३७)

उन्हें इस क्षणसे ही दीख रहा है—वह देखो! विचित्र भूषणवसन-विभूषित असंख्य गोपशिशु हैं, बलराम हैं, नहीं-नहीं सौन्दर्यसरितामें इतनी लहरें उठकर घनीभूत हो गयी हैं। और वहाँ देखो, इन सबके नायक नन्दनन्दनको। अहा! वहाँ तो कोटिचन्द्र एकत्र एक साथ सुधाकी वर्षा कर रहे हैं!

बल समेत सिसु सब अभिराम। कंचन-भूषन कंचन-दाम॥
तिन मधि अधिनाइक जु नंद कौ। बरषत अमी जु कोटि चंद कौ॥

# आध्यात्मिक धनकी श्रेष्ठता

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

सभी प्रकारके धनको प्राप्त करके मनुष्य अपने आपकी पूर्णताकी अनुभूति करता है। धन तीन प्रकारके हैं—भौतिक धन, बौद्धिक धन और आध्यात्मिक धन। बौद्धिक धन भौतिक अथवा आध्यात्मिक धनका साधन होता है। अतः इसे हम 'साधक धन' कह सकते हैं और अन्य दो प्रकार-के धनोंको—'साध्य धन' कहा जा सकता है। जबतक हमारी बुद्धि स्थूल रहती है, हम भौतिक धनको ही संसारकी अधिक कीमती वस्तु समझकर उसे एकत्र करते रहते हैं और हमारी दृष्टि आध्यात्मिक धनकी ओर नहीं जाती। सत्संगके द्वारा जब मनुष्यकी बुद्धि परिष्कृत हो जाती है, तब वह आध्यात्मिक धनकी मौलिकताको मानने लगता है और फिर वह इसे एकत्र करनेके लिये चेष्टा करने लगता है। अतएव कुशाग्रबुद्धिका व्यक्ति ही आध्यात्मिक धनकी ओर जाता है। लक्ष्मीका वाहन उल्लू और सरस्वतीका वाहन हंस माना गया है। लक्ष्मी सांसारिक सम्पत्तिकी प्रतीक है और सरस्वती आध्यात्मिकताकी। जबतक मनुष्यमें नीर-क्षीरका न्याय करनेकी शक्ति नहीं आती, तबतक वह आध्यात्मिकताका मूल्य नहीं समझता। अपनी बुद्धिको सूक्ष्मदर्शी बनानेके लिये मनुष्यको इसके सूक्ष्म द्रष्टाओंके विचारोंको मानना पड़ता है और संसारमें संतोंका सत्संग करना पड़ता है। एक बार आध्यात्मिकताका मूल्य समझ जानेसे भी काम नहीं चलता। मनुष्यको बार-बार इसपर मनन करना पड़ता है। मनुष्यको पुराना अभ्यास उसे आध्यात्मिकताकी ओर जानेसे रोकता है। इसके लिये कई दिनोंके प्रति-अभ्यासकी और नित्य नये चिन्तनकी आवश्यकता होती है।

मनुष्य सभी प्रकारका धन अपने सुखके लिये सञ्चित करता है। भौतिक धनको लोग इसीलिये सञ्चित करते हैं, जिससे वे बुढ़ापेमें उसका उपयोग कर सकें। पर जिस व्यक्तिकी दृष्टि सूक्ष्म है, वह देख पाता है कि जब भौतिकका अभ्यास अधिक बढ़ जाता है, तब मनुष्य न तो वर्तमान सुखका उपभोग कर सकता है और न वह भावी सुखको ही प्राप्त करता है। उसकी भावी सुखकी कल्पना केवल कल्पनामात्र ही रह जाती है, वह वास्तविकतामें कभी नहीं परिणत होती।

भौतिक धन वर्तमान सुखका अपहरण करता है और वह भविष्यके जीवनको भी बिगाड़ देता है। वह भविष्यमें

मनुष्यके लिये दुःखोंकी सृष्टि करता है । मौतिक धनके अतिसञ्चयसे मनुष्यके शत्रुओंकी संख्या बढ़ती है । उसकी चिन्ताएँ बढ़ती हैं, उसका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है और उसकी सन्तान अल्पायु अथवा चरित्रहीन हो जाती है । इसके प्रतिकूल आध्यात्मिक धनकी वृद्धिसे मनुष्यके मित्रोंकी संख्या बढ़ती है । उसकी चिन्ताओंका विनाश होता है, वह आरोग्यवान् होता है और उसकी सन्तान दीर्घायु एवं चरित्रवान् होती है । इन बातोंपर एक-एक करके विचार करनेसे आध्यात्मिक धनकी मौलिकता समझमें आती है और फिर उसके उपार्जनकी लगन मनुष्यमें उत्पन्न हो जाती है ।

ऊपर कहा गया है कि मौतिक धनसे मनुष्यके शत्रुओंकी संख्या बढ़ती है और आध्यात्मिक धनसे उसके मित्रोंकी । इस तथ्यको समझनेके लिये हमें अपने प्रतिदिनके अनुभवपर विचार करना होगा । अभी हालकी बात है । लेखक एक धनी व्यक्तिके घर उसके बुलानेपर गया । इस व्यक्तिको इस समय बहुत-सी चिन्ताएँ सता रही हैं । उसने लेखकका एक लेख एक मासिकपत्रिकामें 'चिन्ताका निराकरण' शीर्षक पढ़ा । उसे इससे बहुत शान्ति मिली । इसपर उसने लेखकको अपने एक मित्रके द्वारा बुलवाया । उसकी उद्विग्नताको जानकर लेखक उसके पास गया और उससे कुछ वार्तालाप हुआ । इसके पश्चात् जब लेखक अपने घरपर नहीं था, यह व्यक्ति भी उससे मिलने आया । इसकी खबर जब लेखकको मिली, तब वह उसके घर भेंट करने गया । लेखकको उसी घरका एक लड़का जानता था । वह दरवाजेपर बैठा था । अतएव उसने लेखकका स्वागत किया और उसे घरके भीतर एक कमरेमें जहाँ वह धनी व्यक्ति पहले मिला था, जानेको कहा । वह धनी व्यक्ति इस समय अर्थात् दिनके दो बजे भोजन कर रहा था । अतएव लेखक व्यग्रचित्त होकर उस कोठरीमें अकेला खड़ा रहा । वह सोचता था कि वह वहाँ ठहरे अथवा चला जाय । इतनेमें घरके एक दूसरे व्यक्तिने उसे देख लिया । उसके मनमें कुछ संन्देह हुआ और फिर उसने एक दृढ़ आवाजसे दूरसे ही पूछ-ताछ की । उसकी कठोर आवाजसे यह स्पष्ट था कि यह लेखककी उपस्थिति वहाँ अवाञ्छनीय समझता था । अतएव लेखक चुपचाप वहाँसे चला गया ।

धनी लोगोंके यहाँ इस प्रकार बहुत-से लोग अपमानित होते ही रहते हैं । अपने धनकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे उनकी सभी लोगोंके प्रति सन्देहकी दृष्टि हो जाती है । इसके कारण उनके पास केवल स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थसाधनके लिये ही जा पाते हैं । उन्हें किसी प्रकारके सत्सङ्गका लाभ होना असम्भव हो जाता है । स्वार्थी मनुष्य अपमानित होनेपर भी धनियोंकी चापलूसी ही करता रहता है । वह धनी लोगोंसे घृणा करता है, फिर भी वह उनकी प्रशंसाके गीत गाता रहता है । धनी व्यक्ति उसके सच्चे हितैषीसे सदा वञ्चित रहता है । धनी मनुष्यके पास कोई भी भला आदमी अनायास नहीं जाता । सभी लोग उसके पास मतलबसे जाते, मतलबकी बात करते और उसे धोखा देनेकी चेष्टा करते रहते हैं । वह भी अनुभवके परिणामस्वरूप चालाक हो जाता है । जिस प्रकार दूसरे लोग उसे धोखा देनेकी चेष्टा करते हैं, वह भी दूसरोंको धोखा देनेकी सदा चेष्टा करता रहता है । इस प्रकार उसका सच्चा मित्र कोई नहीं रह जाता ।

धनसञ्चयके लिये धनी मनुष्यको अपने आश्रितोंपर भी कठोरताका व्यवहार करना पड़ता है । अतएव ये भी उसके शत्रु हो जाते हैं । कितने ही धनी लोगोंको अपनी स्त्रीतकका प्रेम प्राप्त नहीं होता । यदि वे साध्वी रहीं तो सदा पतिसे झगड़ा किया करती हैं, अन्यथा वे उपपतिकी तलाशमें रहती हैं । पतिसे चुराकर वे उसे रुपये देती रहती हैं । पति उनकी चालाकीको कभी-कभी समझ भी जाता है, पर वह करे ही क्या । वह मन मसोसकर रह जाता है । धनी घरकी स्त्रियोंके कुचरित्र होनेकी बात सर्व-साधारणको ज्ञात ही है । यदि स्त्रीको धनके खर्च करनेकी स्वतन्त्रता दे दी जाय तो वह अपने ऐश-आराममें ही धनको उड़ा दे । जब यह स्वतन्त्रता नहीं मिलती तो वह उस समयकी प्रतीक्षामें रहती है जब कि उसका पति मर जाय और उसका कमाया धन उसे मिले ।

जिस मनुष्यको धनकी अधिक चिन्ता रहती है, उसे अपनी स्त्रीके प्रति प्यार नहीं रहता । वह अपनी स्त्रीकी इच्छाको तृप्त करनेमें भी असमर्थ रहता है । प्रेमी मनुष्य धनका लोभी नहीं होता। जिस व्यक्तिको धनका अधिक लोभ होता है, वह प्रेमी नहीं होता । ऐसा व्यक्ति मानसिक नपुंसकताका शिकार रहता है । फिर ऐसे व्यक्तिकी स्त्रीका प्रायः व्यभिचारिणी होना स्वाभाविक है । जब पति स्त्रीको व्यभिचारसे रोकता है, तब वह उससे घृणा करने लगती है । इस प्रकार धनी व्यक्तिको किसी प्रकारका गार्हस्थ्य-सुख प्राप्त नहीं होता । जिसकी स्त्री ही शत्रु है, उसका संसारमें मित्र कौन होगा ।

धनी मनुष्यकी चिन्ताओंकी संख्या अनन्त होती है । बिना चिन्ता किये धनका सञ्चय नहीं होता और न उसकी रक्षा ही होती है । जब मनुष्य लगातार दीर्घकालतक भौतिक

पदार्थोंके लिये चिन्ता करता रहता है तो अभ्यासवश चिन्ता करना उसके स्वभावका एक अंग बन जाता है। ऐसी अवस्थामें यदि चिन्ता करनेका विषय उसके पास न भी हो तो वह कल्पित विषयके लिये ही चिन्ता करता है। इस प्रकार अकारण चिन्ताओंकी उत्पत्ति होती है। एक चिन्ताके निवारण होते ही अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ धनी मनुष्यके मनमें अपने-आप चली आती हैं। चिन्ताओं-की संख्याओंका घटना अथवा बढ़ना मनुष्यकी बाह्य परिस्थितिपर निर्भर नहीं करता। यह मनुष्यके अभ्यास अर्थात् मानसिक परिस्थितिपर निर्भर करता है। मनुष्यका मन अपने स्वभावके अनुकूल बाह्य परिस्थितिका निर्माण भी कर लेता है। इस प्रकार मनकी आन्तरिक परिस्थिति बाहरी घटनाओं-पर आरोपित हो जाती है। जिन बातोंके लिये एक व्यक्ति बिल्कुल चिन्ता नहीं करता, उन्हीं बातोंके लिये दूसरा व्यक्ति चिन्ताके मारे मरा जाता है। यदि वह अपनी चिन्ताओंसे मुक्त होनेकी चेष्टा करे तो भी वह उनसे मुक्त नहीं हो पाता। पहले तो उसकी समझमें भी यह नहीं आता कि उसकी चिन्ताओंका कारण बाह्य परिस्थितियोंमें नहीं, वरं उसके मनमें ही है। फिर यदि उसे यह समझमें भी आ जाय तो बिना कई दिनोंके प्रत्यभ्यासके किये अपनी चिन्ताओंको विनाश कर सकनेकी शक्ति मनुष्यमें नहीं आती। अतएव वह चिन्तामुक्त होनेके प्रयत्न करनेपर भी चिन्ताओंका शिकार बना रहता है।

चिन्ताएँ मनुष्यके मनको निर्बल कर देती हैं, अतएव जितने मानसिक रोग धनीलोगोंको होते हैं, संसारके सामान्य लोगोंको नहीं होते। कहा जाता है कि मानसिक रोगोंकी वृद्धि सभ्यताकी वृद्धिका परिणाम है। वास्तवमें मानसिक रोगोंकी वृद्धि धन या भोगोंके प्रति अत्यधिक लगनकी वृद्धिका परिणाम है। जितना किसी मनुष्यका धन बढ़ता है, उसकी चिन्ताएँ भी उतनी ही अधिक बढ़ती हैं और इनके कारण उसकी मानसिक शक्तिका ह्रास भी उतना ही अधिक होता है। जब मानसिक शक्तिका ह्रास हो जाता है, तब मनुष्यका आत्म-विश्वास नष्ट हो जाता है। उसके विचार निराशावादी बन जाते हैं। यदि कोई अभद्र कल्पना उसके मनमें घुस जाय तो वह उसको मनके बाहर नहीं निकाल सकता। स्वार्थ-परायणताके विचार मनुष्यको निर्बल करते हैं और उदार विचार उसके मनको बलवान् बनाते हैं। निर्बल मनके मनुष्यको मानसिक रोग होते हैं और प्रबल मनके व्यक्तिसे मानसिक रोग दूर भागते हैं।

धनीलोगोंको अनेक प्रकारके शारीरिक रोग भी होते रहते हैं। जब धनकी अधिक वृद्धि होती है, तब मस्तिष्कसे ही मनुष्यको अधिक काम लेना पड़ता है। उसे हाथ, पैरको काममें लानेका अवसर कम मिलता है। शारीरिक व्यायाम पर्याप्त न होनेके कारण धनीलोगोंकी भोजन पचानेकी शक्ति कम हो जाती है। इससे अनेक प्रकारके पेटके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उन्हें फिर अपना जीवन फलाहार, दुग्धपान आदि-पर बिताना पड़ता है। धनीलोगोंमें कोष्ठबद्धताका रोग होना तो स्वाभाविक-सा हो गया है। इसका शारीरिक कारण है और मानसिक भी। जो लोग हाथके मैलका त्याग नहीं करना चाहते, अर्थात् जो पैसेको उदारतापूर्वक खर्च नहीं करते, वे शरीरके मैलको भी अपने शरीरसे बाहर निकालनेमें असमर्थ रहते हैं। कृपणताकी आदत और कोष्ठबद्धता साथ-साथ जाते हैं। विरले ही उदार मनोवृत्तिके व्यक्तिको यह रोग सताता है।

धनीलोगोंको क्रोध या विषादका भाव आनेपर वे उसे पूरी तरहसे प्रकाशित नहीं कर पाते। इसके कारण उनका आवेग उन्हींका विनाश करने लगता है। इससे उन्हें हृदयका रोग हो जाता है। कितने ही कृपण मनोवृत्तिके लोग एकाएक हृदयकी गति रुक जानेसे मर जाते हैं। धनी घरोंकी स्त्रियों-को जितना हिस्टीरियाका रोग होता है, उतना सामान्य घरकी स्त्रियोंको नहीं होता। इसका कारण उनका शारीरिक परिश्रम न करना तथा उनकी कामनाका अतृप्त रहना होता है। माता-पिता मूर्खतावश ही प्रायः धनी घरके युवकको अपनी कन्याओंके लिये वररूपमें खोजते हैं। पर वे इस प्रकार अपनी कन्याओंको जितना दुखी बनाते, उतना दूसरे किसी प्रकार नहीं बना सकते। धनी घरमें पहुँचकर इन कन्याओंको न तो धनका सुख होता है और न पतिकी संगतिका। धनका नियन्त्रण तो घरके बड़े लोग करते हैं, जो प्रायः कंजूस होते हैं और उनके पतिदेव अपना सुख घरके बाहर ही खोजते हैं। इन कन्याओंको रखेलीके समान अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

धनीलोगोंकी संतान दीर्घजीवी नहीं होती। पहले तो बहुत-से धनीलोगोंको संतान ही नहीं होती। यदि उन्हें संतान हो भी जाय तो वह आरोग्यवान् नहीं रहती। इसका एक कारण शारीरिक है, पर प्रधान कारण मानसिक है। धनीलोगोंके शरीरमें उतना बल ही नहीं रहता कि उनकी संतान दीर्घजीवी हो। बहुत-से धनीलोगोंको शारीरिक

अथवा मानसिक नपुंसकता रहती है। जिस व्यक्तिके विचार सदा धन कमानेमें लगे रहते हैं, वह स्त्रीके मनको कैसे प्रसन्न कर सकता है। जबतक पुरुष स्त्रीसे मानसिक सहयोग प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक वह स्त्रीको कैसे सन्तुष्ट कर सकता है। पर स्त्रीका सहयोग प्राप्त करनेके लिये धनपिपासुके पास समय ही कहाँ है। सुयोग्य संतान स्त्री-पुरुषके सच्चे प्रेमका परिणाम होती है। जब स्त्री पुरुषके प्रेममें और पुरुष स्त्रीके प्रेममें संसारकी सभी बातें भूल जाता है, तभी उनके मिलनसे आरोग्यवान् और प्रतिभावान् बालक उत्पन्न होते हैं। इस प्रकारका मिलन धनके लोभी व्यक्तियोंमें संभव नहीं।

मनुष्यके विचारोंका प्रभाव न केवल उसके चरित्र और स्वास्थ्यपर पड़ता है वरं उसके बाल-बच्चोंपर और उसके आस-पास रहनेवाले लोगोंके चरित्र और स्वास्थ्यपर भी पड़ता है। धनी मनुष्य अनेक लोगोंकी शत्रुता प्राप्त कर लेता है। वह धन कमानेकी धुनके कारण यह जाननेकी चेष्टा नहीं करता कि वह कहाँतक दूसरेके हृदयको दुःख पहुँचाता है। इसके कारण उससे बहुत लोगोंको दुःख पहुँचता है। वे उसे कोसते रहते हैं। इस कोसनेका परिणाम यह होता है कि वह सभी प्रकारके आध्यात्मिक सुखोंसे वञ्चित हो जाता है। कभी किसी गरीब मनुष्यका नुकसान कर देता है; पर जब वह कोसता है, तब उसके विचारोंका बुरा परिणाम धनी घरके बालकोंपर पड़ता है। इसके कारण वे जल्दी-जल्दी मर जाते हैं अथवा अस्वस्थ बने रहते हैं।

अपने-आपके विचारोंका भी बुरा प्रभाव अपने बच्चोंपर पड़ता है। मनुष्यके ध्वंसकारी विचार पहले उसके बच्चोंको ही हानि पहुँचाते हैं। पीछे वे दूसरोंकी हानि करते हैं। देखा गया है कि यदि कोई कृपण मनुष्य अपने नजदीकके सम्बन्धीका बालक गोद ले ले तो वह बालक नीरोग नहीं रहता। लेखकने पहले एक करोड़पतीकी चर्चा की थी। इसके बारह बच्चे हुए, पर एक भी दो-तीन वर्षसे अधिक जीवित नहीं रहा। उसने पीछे अपने भाईके लड़केको दत्तक पुत्र बनाया। यह लड़का भी सदा रोगग्रस्त रहता था। लेखकके एक दूसरे मित्रने अपने लड़केको उसके एक बड़े भाईके पास भेज दिया। पहला व्यक्ति निर्धन था और दूसरा धनवान्। धनवान् भाईने अपने ही परिश्रमसे रुपया कमाया था। उसके कोई संतान न थी। जब यह लड़का मित्र भाईके पास भेज रहा था, तब लेखकने उसे सलाह दी थी कि वह अपने लड़केको भाईके पास न भेजे; उसको बच्चे उसके लिये दिये गये हैं न कि भाईके लिये। पर किसी कारणवश भाईके आग्रह करनेपर बच्चा भेज दिया गया। एक ही सालके बाद खबर मिली कि वह लड़का एकाएक ज्वरसे पीड़ित होकर मर गया।

धनके लोभी लोगोंका धन जो लोग खाते हैं, उनकी बुद्धिपर भी अच्छा असर नहीं होता। उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। वे आत्मसम्मानको प्रायः खो देते हैं, इसके कारण उनका चरित्रबल भी नष्ट हो जाता है। धनीलोगोंके अप्रकाशित दोष उनके धनके इन खानेवाले व्यक्तियोंमें आ जाते हैं। धनीलोग पहले तो किसीको कुछ देते ही नहीं और यदि कुछ देते हैं तो किसी स्वार्थबुद्धिसे। इसके कारण साधारण व्यक्ति भी स्वार्थी बन जाता है। मनुष्यके मनपर उसके वातावरणका प्रभाव बहुत ही प्रबल होता है। वातावरणमें फैले हुए विचार निर्देशके रूपमें काम करते हैं और कोई भी व्यक्ति उसी प्रकारका बन जाता है। इस प्रकारके विचार हम उसके बारेमें बार-बार अपने मनमें लाते हैं। किसी मनुष्यको सदा चोर समझते रहनेसे वह चोर बन जाता है और उसे भला समझनेसे वह भला बन जाता है।

जिस व्यक्तिके आध्यात्मिक धन है, उसका सम्पर्कमात्र कल्याणकारी होता है। वह यदि हमें कुछ भी न दे तो भी उसके दर्शनमात्रसे लाभ होता है। जो ऐसे व्यक्तिका दिया हुआ थोड़ा भी प्रसाद पा लेता है, वह दीर्घायु होता है। उसके अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक क्लेश सहजमें नष्ट हो जाते हैं। ऐसे व्यक्तिकी संतान भी निकम्मी नहीं होती; वह जिसे अपना आशीर्वाद देता है, वह जीवनमें सफल हो जाता है।

## सत्संगका सुख

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

# तत्त्व-साक्षात्कार

( लेखक—श्रीबाबूलालजी गुप्त 'श्याम' )

परमात्मा ज्ञानघनमूर्ति है। जिस चित्तमें आवरण नहीं रहता, उसमें ही ज्ञानका विकास होता है, ज्ञानस्वरूप भगवान् भी उस शुद्ध चित्तमें ही सदा आवद्ध रहते हैं; क्योंकि स्वच्छ चित्त-दर्पणमें विश्वव्यापी प्रभुका स्वरूप बिना प्रतिबिम्बित हुए नहीं रह सकता। इस कारण साधनाका प्रथम सोपान है चित्तशुद्धि। तमोगुण चित्तपर आवरण, मलिनता लाता है; रजोगुण चञ्चलता तथा सत्त्वगुणके उदय होनेसे चित्त निर्मल होता है। जीवनका प्रयोजन तत्त्व-जिज्ञासा है, कर्मानुष्ठानद्वारा विषयभोग उसका प्रयोजन नहीं। अर्थात् धर्म, अर्थ, कामसे जीवन धारण करके तत्त्व-जिज्ञासा ही कर्तव्य है; कर्मलब्ध स्वर्गादि श्रेष्ठ फल नहीं है—

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥
( श्रीमद्भा० १। २। १० )

तत्त्व-साक्षात्कार न होनेतक जीव कृतार्थ नहीं हो सकते। स्वर्ग, ब्रह्मलोक, पितृलोक अथवा जहाँ भी गति हो, पुण्यक्षयसे पतन होता है—

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। ( गीता ९। २१ )

परंतु तत्त्व-साक्षात्कार होनेपर फिर पतनका भय नहीं। इसी कारण श्रुतियोंने बार-बार तत्त्व-साक्षात्कारका आदेश दिया है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः॥ ( बृहदारण्यक० ४। ५। ६ )

ब्रह्म परमात्मा किंवा भगवान्, किसी भावसे तत्त्व-साक्षात्कार करनेमें प्रथम श्रद्धाका मुख्य प्रयोजन है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
( गीता ४। ३९ )

श्रद्धावान् व्यक्ति श्रीगुरुपदाश्रय करके—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
( मुण्डक० १। २। १२ )

—के आदेशानुसार साधनामें लगे रहकर शनैः-शनैः तत्त्वज्ञान लाभ कर लेता है। ज्ञान, योग किंवा भक्तियोग—किसी मार्गमें भी श्रद्धाकी परमावश्यकता है। इसमें भेद यह है कि ज्ञान, योग और भक्तिके साधनोंमें यथाक्रम ज्ञानी, योगी और भक्त गुरुका चरणाश्रय लेना पड़ता है; अन्यथा उन्नति नहीं होती। गुरुपदाश्रय लेकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेसे तत्त्व-साक्षात्कार होता है।

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयमेते दर्शनहेतवः॥

ज्ञान, योग तथा भक्ति—तीनोंमें ही श्रवण, मनन और निदिध्यासन रहते हैं; किंतु उनमें भेद है। ज्ञानपथमें जीव-ब्रह्मैक्य, योगपथमें जीव और परमात्माकी मिलन-समाधि तथा भक्तिपथमें श्रीभगवान्‌का नाम, रूप, गुण, लीलाकथा-का श्रवण-मनन करना होता है। उसके अनन्तर ज्ञान और योग-पथमें ध्यानरूप निदिध्यासन तथा भक्तिपथमें उपासना करनी पड़ती है। निदिध्यासन सिद्ध होनेपर ज्ञानीको ज्ञानपथमें तत्पदका साक्षात्कार होता है—'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'(छान्दोग्य० ६। ८। ७ ); योगीको ध्यान-समाधिमें अन्तर्हृदयमें अन्तर्यामीका साक्षात्कार होता है एवं भक्तको भाव-समाधिमें अन्तर्बहिः श्रीभगवत्साक्षात्कार होता है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
( श्रीमद्भा० ११। २। ४५ )

ज्ञानीको ज्ञानसे, योगीको ध्यानसे और भक्तको प्रेमसे तत्त्व-साक्षात्कार होता है; किंतु इसमें भी कुछ रहस्य है। क्या रहस्य है?—भक्तियुक्त ज्ञानयोगसे ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, भक्तियुक्त अष्टाङ्गयोगसे परमात्मसाक्षात्कार होता है और शुद्ध भक्तियोगसे भगवत्साक्षात्कार होता है। अर्थात् भक्ति-युक्त साधना ही सफल होती है, भक्तिहीन किसी साधनासे भी फल नहीं मिलता।

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतिगृहीतया॥

भक्ति तीनोंमें है।

जिस प्रकार ज्ञान-शास्त्रमें सर्वपरित्यागपूर्वक निर्गुण-उपासना विहित है, उसी प्रकार भक्ति-शास्त्रमें भी सर्वपरित्याग-पूर्वक निर्गुण गोविन्दके भजनका उपदेश है। ब्रह्मज्ञानपूर्वक सर्वदेवताओंकी आराधना जैसे ज्ञानीके लिये दोषावह नहीं है,

उसी प्रकार श्रीगोविन्दविभूतिज्ञानसे सर्वदेवताओंकी उपासना भक्तके लिये भी दोषावह नहीं है; किंतु पृथक् ईश्वरज्ञानको श्रुतिने दोष कहा है । श्रीगोविन्दका सम्बन्ध न रखकर अन्यासक्त होना दोषावह है और श्रीगोविन्दका भजन करके अन्य देवताकी निन्दा करना भी दोषावह है—

गोपालं पूजयेद् यस्तु निन्दयेदन्यदेवताः ।
अस्तु तावत् परो धर्मः पूर्वधर्मो विनश्यति ॥
( गौतमीये )

हरिरेव सदाऽऽराध्यः सर्वदेवेश्वरेश्वरः ।
इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन ॥
( पाद्मे )

ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च ॥

यह निर्गुण गोविन्दकी उपासना है । सनातन शास्त्रोंमें तो कलहके बीजका सर्वथा अभाव ही रहा है, पाखण्डीका ही स्वभाव कलहमें रहता है । मुख्य ध्येय तत्त्व-जिज्ञासा ही है । यह भक्ति, ज्ञानकी साधनाप्रणालीका ध्येय-निरूपण है ।

अब ज्ञानयोग एवं अष्टाङ्गयोगके ध्यानका लक्षण, साधन और अनुभव एवं उपयोगिताका वर्णन किया जा रहा है—आनन्दमें मग्न रहते हुए एकमात्र परमात्माके भावमें या परमात्माके नाममें मनकी एकाग्रता होना ज्ञानयोग तथा अष्टाङ्ग-योगके ध्यानका लक्षण है । 'ध्यानं निर्विषयं मनः' अर्थात् इष्टातिरिक्त विषयरहित होकर इष्ट वस्तुमें मनकी संलग्नता—ऐकाग्र्यको ध्यान कहा जाता है—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' ( योगदर्शन, विभूतिपाद २ ) । और यदि यह एकाग्रता परमात्माके रूपमें हो जाय तो यह ध्यान भक्तियोगका अङ्ग होता है । फल दोनोंका एक ही है । संकल्प-विकल्पराहित्य दोनोंमें ही आ जाता है ।

ध्यानकी स्थिति बढ़ते-बढ़ते जब केवल यह भाव उदय हो कि—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥

तब अपनेको सविकल्प-समाधिभूमिका प्राप्त जाननी चाहिये । इस स्थितिकी पक्वावस्थामें शुद्ध 'अस्मिता' रह जाती है । अस्मिता=अहमस्मि इति भावः । सविकल्प समाधिसे व्युत्थान-कालमें अन्तर्बहिः सम्पूर्ण वृत्तियाँ या सृष्टियाँ अपनेमें स्वगतभेदके रूपसे भासती हैं ।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
( गीता ६ । २९ )

—अनुभूत होता रहता है । जो चित्त किसी एक विषयमें निबद्ध होकर तद्‌गतभावसे निर्दिष्ट समयके लिये अविच्छिन्न-रूपसे स्थिर रहता है, उसको एकाग्र मन कहते हैं । तैलधारावत् या मधुधारावत् अविच्छिन्नरूपसे मनका अवस्थान एकाग्र मनकी अवस्था है । सूत्रकारने कहा है—

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः ।
( योगदर्शन ३ । १२ )

अर्थात् एक वृत्तिके निवृत्त होनेपर यदि उसके बाद ठीक वैसी ही वृत्तिका उदय हो एवं तादृश अनुरूप वृत्तिका प्रवाह चलता रहे तो उस चित्तको एकाग्रचित्त कहा जाता है । वैसा एकाग्र होना जब चित्तका स्वभाव हो जाता है, तब अहोरात्रके अधिकांश समयमें चित्त एकाग्र रहता है । स्वप्नावस्थामें एकाग्र स्वप्न होता रहे, तब उस चित्तको एकाग्र कहा जा सकता है । जाग्रत्‌के संस्कारोंसे स्वप्न होता है । अतः यदि जाग्रत्‌में अत्यधिक कालतक सहज ही चित्त एकाग्र रहे तो स्वप्नमें भी वैसा ही रहेगा । एकाग्रताका लक्षण है—ध्रुव स्मृति अथवा सर्वदा ही आत्मस्मृति । उसके संस्कारसे स्वप्नमें भी आत्मविस्मरण नहीं होता । केवल शारीरिक स्वभाववश इन्द्रियाँ जड बनी रहती हैं । एकाग्र भूमिका आयत्त होनेपर सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है । वह समाधि ही कैवल्यसाधक है । योगियोंका मन समाधि अवस्थामें सर्वप्रकारकी चिन्ताओंसे विरत हो जाता है एवं सुषुप्ति-दशामें अर्थात् स्वप्नशून्य गाढ़ निद्रामें मनकी चिन्तन-शक्ति नहीं रहती । तदवस्थापन्न मनको 'निरुद्ध' मन कहा जाता है । निरोध-समाधिके अभ्यासद्वारा जब चित्तका दीर्घ-काल स्थायी निरोध आयत्त हो जाता है, तब उस चित्तावस्थाको निरोधभूमि कहते हैं । निरोधभूमिद्वारा चित्त विलीन होकर कैवल्य प्राप्त होता है । जिसको समाधिका लाभ होता है, वह वशी संयमी पुरुष सर्वाङ्गीण शुद्धिको प्राप्त करके त्रितापमुक्त हो सकता है ।

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ।

अपि च—

विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि ।
प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात् ॥

इस एकाग्र और निरुद्ध मनकी शक्ति असाधारण और अमोघ है । इस अवस्थाको समझानेके लिये शास्त्रकार ऐसा दृष्टान्त प्रदर्शित करते हैं—दिनभर प्रखर धूपमें जलने योग्य

कोई पदार्थ रक्खा रहनेपर भी नहीं दग्ध होता; किंतु आतशी शीशा जिससे कि किरणें घनीभूत हो जाती हैं, उसके धारणसे वह दाह्य पदार्थ जलकर भस्म हो जाता है। इसका कारण यह है कि उस आतशी शीशेमें सूर्यकिरणसमूह घनीभूत तथा केन्द्रीभूत होनेसे उसकी शक्ति सहस्रोंगुनी बढ़ जाती है। वैसे ही चञ्चल मनको एक बार एकाग्र या निरुद्ध कर सकनेपर उससे विषय-वासनाएँ समूल भस्मीभूत हो जायँगी। इसमें विस्मयकर कुछ भी नहीं है। जो लोग मनको एकाग्र किंवा निरुद्ध करनेमें अभ्यस्त नहीं हैं, उनको यह समझना बड़ा ही कठिन है कि एकाग्र तथा निरुद्ध मनमें काम-क्रोधादि, हर्ष-शोकादि या सुख-दुःखादि ठहर नहीं सकते।

भोगवासनाशून्य (वैराग्ययुक्त) न होनेपर मन स्थिर होकर ध्यानमें निमग्न नहीं हो सकता। परमात्माके साथ अभिन्नभावसे आत्मचैतन्यका ज्ञान होनेपर ही देहात्मबुद्धि नष्ट हो जाती है। ध्यानयोगसे अपने नित्य चैतन्यस्वरूपकी धारणा निश्चित होनेपर ही सर्वभूतोंमें चैतन्यसत्ता अथवा ब्रह्मसत्ताकी उपलब्धि होती है। आत्मध्यान करते-करते साधक अपनी पृथक् सत्ता विस्मृत करके परमात्माकी चित्स्वरूपताको प्राप्त होता है। अन्तरमें आत्मसाक्षात्कारके लिये सर्वदा सत्य-पालन, मनकी एकाग्रताका साधन, सर्वत्र ही ज्ञानके विकासका दर्शन तथा ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता है। स्वप्नजात पुत्रकी जैसे अन्तःकरणसे अतिरिक्त सत्ता नहीं है, वैसे ही अविद्याके विषयसृष्ट पदार्थोंकी भी आत्मातिरिक्त पृथक् सत्ता नहीं है। जैसे स्वर्णसे भिन्न अलङ्कारकी सत्ता नहीं होती, देशकालविच्छिन्न स्वर्णका अनित्य आकारमात्र अलङ्कार नामसे ख्यात होनेपर भी स्वर्ण ही सत्य है, वैसे ही ब्रह्मातिरिक्त विश्वकी पृथक सत्ता नहीं है। ब्रह्म ही सत्य है, ब्रह्म ही ज्ञानरूपसे जगत् है। ब्रह्म-ज्ञानहीन मनुष्योंके निकट जडरूपसे दृष्ट यह जगत् भी ब्रह्मस्वरूपसे भिन्न नहीं है।

## राम-राज्य

( लेखक—श्रीमहेश्वरप्रसादजी )

साधारणतः 'स्व'का अर्थ 'अपना' होता है और वह 'अपना' अपना ही है। अपनेसे छुट्टी कहाँ? हो ही कैसे सकती है? केवल अपने ऊपर काबू हो जाय, समझिये कि मानव-जीवन सार्थक है। दूसरेको बनाना तो अपनेको भी बिगाड़ना है। जीवनमें इतना समय कहाँ है कि मनुष्य दूसरको भी बना सके। सच तो यह है कि किसीके बनानेसे अथवा बिगाड़नेसे कोई बन अथवा बिगड़ थोड़े सकता है। बनना अथवा बिगड़ना जो कुछ है, बस अपनेको लेकर है। जिस प्रकार ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे वैद्य, डाक्टर और हकीम भूखों मरने लगेंगे, ठीक उसी प्रकार अपनेको समझनेसे उपदेशक और सुधारक स्वयमेव समाप्त हो जायँगे। प्रत्येक मनुष्य जब अपने आपको बना लेगा, तब फिर कोई कारण नहीं कि उपदेश और सुधारकी पुनः आवश्यकता पड़े। और, इस प्रकार जब एक-एक व्यक्ति अपनेको जीत ले, अपनेपर विजय प्राप्त कर ले, तब फिर यह दुनिंया आनन्दका आगार बन जाय। बड़े-बड़े योगेश्वरोंने क्या किया था? केवल अपने मनको जीता था। अपने ऊपर आधिपत्य प्राप्त किया था और सारी दुनिया स्वतः परास्त हो गयी थी। मनुष्यकी परम बुद्धिमानी इसीमें है कि वह अपनेको जान ले और अपनेको समझ ले—अपना देश, अपना घर और अपना परिवार, अपना धर्म, अपनी जाति और अपनी नीति, अपनी भाषा, अपनी सभ्यता और अपनी संस्कृति।

जानते हैं, स्वच्छन्द कौन हैं? पक्षी। वे जब जहाँ चाहें, जा सकते हैं। सर्वत्र उनकी गति समान रूपसे है। हाँ, मनुष्य स्वतन्त्र हो सकता है और होना ही चाहिये। परंतु ऐसा नहीं कि 'परम स्वतंत्र न सिर पर कोऊ।' मनुष्यकी स्वतन्त्रता मानव-धर्मोंकी परिधिके भीतर है। स्वतन्त्रताकी कदापि यह आज्ञा नहीं कि मनुष्य अपने स्वरूपको विकृत कर दे, वह राक्षस हो जाय। मनुष्य यदि देवत्वको नहीं प्राप्त कर सका तो कम-से-कम मनुष्यता या मानवताको भी तो कायम रखना ही चाहिये। मेरी समझसे यह भी कम नहीं।

जो केवल देवताओंकी ही खोजमें है, उसे स्वर्गकी बाट देखनी चाहिये और दैत्योंको भी सतर्क रहना चाहिये कि उनकी चलती बराबर नहीं रहेगी। यहाँ तो भाई! आदमीकी आवश्यकता है और आदमीकी ही गुजर है। आदमीके पास जहाँ एक ओर ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल और प्रेम-भक्ति है, बस दूसरी ही ओर काम-क्रोध, लोभ-मोह तथा मद-मत्सर भी डेरा डाले हुए हैं। यह साधारण बात नहीं कि इस द्वैत और दुविधाको लेकर मानव जी रहा है। असलमें मानव जीना जानता है। उसकी जहाँतक पहुँच है, नूतन सृष्टिका निर्माण करता है और उस नूतन सृष्टिके साथ प्रत्येक मानवका अपना अलगका अस्तित्व होता है, जिसे दूसरे शब्दमें 'व्यक्तित्व' कहते हैं। स्वतन्त्र व्यक्तिकी व्यष्टि समष्टिरूपमें स्वराज्यका निर्माण करती है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रताकी मिलती-जुलती हुई पुकार उसे यथायोग्य कायम रखनेका अधिकार स्वराज्य है।

स्वाधीन देशका स्वराज्य बहुत भारी चीज है। उसे लेकर कुराज्यकी स्थापना नहीं ही की जा सकती। साथ ही जिन लोगोंने स्वराज्यका अर्थ अराजकता तथा गुंडाशाही लगा लिया है, वे भी भ्रममें हैं। स्वराज्यका अर्थ कदापि यह हो ही नहीं सकता कि मनुष्य मनुष्यपर अत्याचार करे। जो जहाँ है, वहींपर लूट-खसोट आरम्भ करे तथा अधिकार पाकर अथवा पदलोलुप होकर उस पद अथवा अधिकारसे नाजायज फायदा उठाये। स्वराज्यका मतलब सीधे सुराज्यसे है, जिसे लोग 'राम-राज्य' कहते हैं। लोककी रक्षा 'सत्'का आभास है, लोकका मङ्गल 'परमानन्द'का आभास है। इस व्यावहारिक 'सत्' और 'आनन्द'का प्रतीक है 'राम-राज्य'। स्व० गाँधीजी देशकी स्वाधीनताके साथ स्वराज्य, सुराज्य और 'राम-राज्य'का नारा लगाया करते थे। देशवासियोंने सुना था। पता नहीं, उनके 'राम-राज्य'का क्या अर्थ था? परंतु 'राम-राज्य'का जो अर्थ जनता लगाये बैठी है, वह यह है और बस यही है—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥
बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

× × ×

अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब निर्दंभ धर्म रत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

× × ×

सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र चरन सेवक नर नारी॥
एकनारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥
दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज॥
फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥
कूजहिं खग मृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा॥
सीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा॥
लता बिटप मागें मधु चवहीं। मनभावतो धेनु पय स्रवहीं॥
ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेताँ भइ कृतजुग कै करनी॥
प्रगटीं गिरिन्ह बिबिधि मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी॥
सागर निज मरजादाँ रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा॥
बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहिं काज।
मागें बारिद देहिं जल रामचंद्र कें राज॥

प्रश्न हो सकता है कि तब यह 'राम-राज्य' हो कैसे? उत्तरमें निवेदन है कि हिंदू-धर्मसे, 'हिंदू-संस्कृति'से। रसा नीरसा हो गयी है। उसे रसकी आवश्यकता है। जल अपवित्र हो गया है। उसे पावन करनेकी जरूरत है। सूर्यकी रश्मि मलिन होती जा रही है। उसे ज्योति चाहिये। हवामें दुर्गन्ध भर गयी है। उसमें सुगन्ध आनी चाहिये। आकाश गैसोंसे आच्छादित हो

गया है, वह खाली होना चाहिये। और उक्त पाँचों तत्त्वोंका संस्कार एकमात्र तभी हो सकता है, जब कि स्थान-स्थानपर यज्ञ हो और गोवध बंद हो। मशीनोंसे जोतनेसे खेत उपजाऊ नहीं हो सकते। होंगे भी तो वह अन्न लाभदायक नहीं हो सकता। गौकी वृद्धि होनेसे खाद सुन्दर होगा। सुन्दर अन्न पैदा होगा। दूध, दही और घीका बाहुल्य होगा। वनस्पतिका घी-दूध कहाँतक काम कर सकता है। भोजनके ऊपर ही तो राम पैदा होंगे। वैभव और ऐश्वर्य तो हमारा बढ़ गया। साथ ही अन्यान्य दुर्गुण भी हमारे बढ़ गये। लेकिन जिसपर हम अवलम्बित हैं, उसका दिनों-दिन नाश ही होता जा रहा है। जो चीज हम खा रहे हैं, उससे हम विनष्ट होते जा रहे हैं। हमारी बुद्धि भ्रष्ट होती जा रही है। अधिकमें हिंदूकोड-बिलका जो दौरा हमारे ऊपर सवार है, वह सर्वनाशका सामान है। हमारी सन्तान जो होगी, भविष्यमें वह क्या होगी—हम नहीं कह सकते। परंतु अपनेको विचलित देखकर ही हम कह सकते हैं कि हम 'राम-राज्य' से कोसों दूर हैं और रहेंगे। जबतक हम राम नहीं पैदा कर लेते हैं और जबतक आरामके साधन नहीं बना लेते, तबतक 'राम-राज्य'के अधिकारी हम नहीं। समस्त वैज्ञानिक आविष्कारोंको लेकर भी हम सुखी नहीं। हमारे भीतर अभावकी भट्ठी जल रही है। तो हमें बस, अपना ही चाहिये—वह अपना, जो सपना हो गया है। दूध-दही खोजे नहीं मिलता। मालूम होता है कुछ दिनोंमें ये वस्तुएँ अमृतकी तरह केवल नामकी रह जायँगी। शरीरकी सफाई और उससे अधिक यदि हृदयकी सफाई नहीं हुई तो फिर स्वराज्यसे कुछ लाभ नहीं। स्वराज्य दूसरे देशोंके लिये भले शोभा दे; भारतमें यदि स्वराज्य है तो एकमात्र 'राम-राज्य' का।

# ईश्वर और विज्ञान

( लेखक—श्रीरामजीदास वधवा बी० ए०, प्रभाकर )

ईश्वर और विज्ञानका विषय आजकलके उच्च शिक्षाप्राप्त लोगोंके लिये बहुत आकर्षक हो चला है; क्योंकि वे प्रायः ईश्वरको केवल भ्रान्ति अथवा झूठ-मूठकी कल्पना मानते हैं और ऐसे वैज्ञानिकोंको इस भ्रान्तिसे मुक्ति दिलानेवाले परम ज्ञानी गुरु मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर-वीश्वर कुछ भी नहीं हैं; क्योंकि उनको जड-वस्तुसे परे न कभी कुछ प्रतीत हुआ है और न हो सकता है। परंतु ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक अपनी खोजमें प्रगति करते जा रहे हैं, त्यों-ही-त्यों उनकी आधारभूमि उन्हें डावाँडोल दिखायी देती है और बुद्धि जवाब दे रही है।

जब हम ईश्वरके सम्बन्धमें विचार करने लगते हैं, तब प्रायः सबसे पहली और सबसे बड़ी गलती यह करते हैं कि हम अपनी सुनी-सुनायीके आधारपर बनायी हुई ईश्वरकी किसी विशेष कल्पनाको अपने मस्तिष्कमें धारण कर लेते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक ही है; क्योंकि जबतक किसी विषयके सम्बन्धमें हमारे सत्य अथवा असत्य पूर्वज्ञानके अनुसार हमारे मनमें कोई धारणा न हो, तबतक हम न तो उसपर कुछ विचार ही कर सकते हैं और न कोई मत ही प्रकट कर सकते हैं। संसारके अन्य सब विषयोंके सम्बन्धमें तो कुछ-न-कुछ कल्पना अथवा धारणा बनाकर आगे विचार किया जा सकता है; परंतु जहाँतक ईश्वरका सम्बन्ध है, यह तरीका प्रायः भ्रान्तिकी ओर ही ले जानेवाला है।

जिसको ईश्वरका ज्ञान है, वह तो उसके सम्बन्धमें कुछ कहता नहीं। क्योंकि उसने जान लिया है कि ईश्वर अनिर्वचनीय है। उसका सत्य ज्ञान किसी भी परोक्ष साधनद्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। और उसका चाहे कोई कितना ही वर्णन करता जाय, उसका साक्षात्कार करानेमें वह सर्वथा असमर्थ तथा अपूर्ण ही रहेगा। मन अथवा बुद्धि कोटि प्रयत्न करनेपर भी उसके आस-पास ही भटकते रहते हैं। ईश्वरीय ज्ञानके प्रचण्ड प्रकाशको छू सकनेकी उनमें शक्ति नहीं। संसारके सभी साधन ससीम हैं। और जो स्वयं ससीम है, वह असीमको कैसे पा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि

ईश्वरको जाना ही नहीं जा सकता। परंतु ईश्वरको जाननेके लिये सर्वप्रथम 'जानने'का अर्थ स्पष्ट कर लेना परमावश्यक है।

ईश्वरके सम्बन्धमें विचारपूर्वक इतना कुछ कहा जा सकता है कि जो कुछ है, परमात्मा ही है; वह कुछ भी नहीं है, इसलिये सब कुछ है और वह सब कुछ है, इसलिये वह कुछ भी नहीं हो सकता। क्योंकि कुछ भी होनेका अर्थ ससीम होना है, जो कि वह नहीं है। और असीम होनेका दूसरा अर्थ सब कुछ होना है।

ईश्वरको जाननेका अर्थ हमारे सांसारिक जीवनमें प्रयुक्त साधारण जाननेकी क्रियासे निश्चय ही भिन्न है। भौतिक संसारका सम्पूर्ण ज्ञान, जिसमें विज्ञान ( Science ) भी सम्मिलित है, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों तथा बुद्धिका विषय है, जब कि ईश्वर इनसे परे है।

निश्चय ही परमात्माको जाननेके लिये सम्पूर्ण मानसिक कल्पनाओं और स्वीकृतियोंको मिटा देना होगा। असीमको पानेके लिये सम्पूर्ण कल्पित सीमाओंको तोड़ देना होगा। तब न अंदर कुछ सीमित रहेगा और न बाहर कोई सीमा रहेगी। दूसरे शब्दोंमें कुछ भी न रहकर सब कुछ बन जाना होगा। परमात्माको जाननेका अर्थ सीमित अहंभावसे ऊपर उठकर अनन्तके सङ्ग एक हो जाना है। यह एक अनुभवका विषय है, जिसका कथन नहीं किया जा सकता।

जिसने ईश्वरको जान लिया है, उसके लिये तो यह वाद-विवादका विषय ही नहीं; और जो वाद-विवाद करते हैं, वे जानते नहीं हैं। जो लोग ऐसोंकी ईश्वरसम्बन्धी धारणा अथवा सम्मतिको महत्त्व देते हैं, वे स्वयं भी उन वक्ताओंकी भाँति पथभ्रान्त हैं।

ऐसे लोगोंमें प्रायः आजकलके विज्ञानवादी हैं जो कि ईश्वरके सम्बन्धमें कुछ विचित्र ही विचार लिये फिरते हैं। वे कहा करते हैं कि पहले तो ईश्वर है ही नहीं; और यदि वह कोई वस्तु है तो वह ऐसा जालिम है, जिसने संसारमें मनुष्योंके लिये केवल दुःख-ही-दुःख और अन्याय-ही-अन्याय बनाया है। उनके विचारानुसार ईश्वर किसी ऊँचे अलग-थलग स्थानमें बैठी हुई दिखायी न देनेवाली कोई बला है यही नहीं, संसारमें जितने सुखके साधन हैं, उनको तो मनुष्योंने स्वयं बनाया है; परंतु दुःखोंको सिरपर फेंकनेवाला वही ईश्वर है। वे समझते हैं कि एक समय ऐसा आयेगा जब कि विज्ञान ( Science ) इतना विकसित हो जायगा कि संसारके सभी क्लेश और अव्यवस्था मिटा दिये जायँगे, और संसारका प्राकृत शासनविधान ईश्वरके हाथोंसे छिनकर विज्ञानवेत्ताओं तथा नीतिज्ञोंके हाथमें आ जायगा। ऐसोंको विदित होना चाहिये कि संसारको सुख तथा शान्ति देना विज्ञानके वशकी बात नहीं।

संसारकी अशान्ति तथा दुःखके मूल कारण मनुष्यके मनमें ही उपस्थित हैं। विज्ञान मनुष्यके हाथमें एक निर्जीव यन्त्रके समान है। जिस प्रकार एक उस्तरा यदि बंदरके हाथमें दे दिया जाय तो वह उसका सदुपयोग तो क्या करेगा, अपना या अपने भाइयोंका ही कोई अङ्ग काटेगा, उसी प्रकार जबतक मनुष्य लोभ, स्वार्थ, शत्रुता, द्वैत आदि दुर्वासनाओंके दास बने हुए हैं, विज्ञानके द्वारा संसारको भीषण हानि पहुँचनेका डर है। और यदि संसारका यही हाल रहा तो वह दिन दूर नहीं, जब कि जड़वादियोंके पूज्यदेव विज्ञानके परमाणु-बम-जैसे आविष्कार एक भयङ्कर प्रलय उत्पन्न कर देंगे।

परमात्मा जगत्से भिन्न नहीं है। सभी कार्य उसके नियमोंके अनुसार हो रहे हैं। बल्कि वह स्वयं ही नियम है। प्राकृतिक नियमोंसे विमुख होना अपने लिये दुःखको निमन्त्रण देना है और उनको पहचानकर उनके अनुसार आचरण करना अपने लिये सुख उत्पन्न करना है। इसीका नाम आस्तिकता है और विज्ञानकी सम्पूर्ण सफलताका यही मूल मन्त्र है।

यह भौतिक जगत् ईश्वरका वह विराट् स्वरूप है, जिसे हम अपनी भौतिक ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा अनुभव करते हैं, परंतु अज्ञानके कारण उसे वैसा पहचानते नहीं। काल, देश तथा अवस्था ( Time, space and causation ) में ही इस मायावी संसारकी सत्ता है। मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंके बिना न तो काल, देश तथा अवस्थाकी कोई सत्ता है और न जगत् ही है।

सम्पूर्ण सांसारिक ज्ञान तथा विज्ञान ज्ञानके अनन्त भण्डार ईश्वरका एक क्षुद्र अंशमात्र ही हैं। भौतिक विज्ञानका क्षेत्र ज्ञानेन्द्रियों तथा बुद्धितक ही सीमित है; और इनसे परे ज्ञानका एक अनन्त एवं अथाह समुद्र है, जिसे न जाननेके कारण जड़वादियोंने विज्ञानको ही सब कुछ मान लिया है—ठीक उस उल्लूकी भाँति, जिसने सूर्यको कभी नहीं देखा है, अतः जिसके लिये रात्रिका क्षीण क्षुद्र प्रकाश ही परम प्रकाश है, उससे परे कुछ नहीं।

# साधना

( लेखक—पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी )

जिस क्रियासे फलसिद्धि हो, उसे साधना कहते हैं। अतः साधनाका कार्यक्षेत्र बड़ा विस्तीर्ण है। लोगोंकी रुचि भिन्न प्रकारकी होती है, तदनुसार फल-सिद्धिके भी अनन्त भेद हैं। अतः साधनाके भी असंख्य भेद हुए।

फिर भी महात्माओंने दो भेद माने हैं, जिनके अन्तर्गत सम्पूर्ण सिद्धियाँ आ जाती हैं—एक अभ्युदय और दूसरा निःश्रेयस। इन दोनोंकी सिद्धि धर्मसे होती है। यदि धर्मसे व्यतिरिक्त किसी अन्य उपायसे भी सिद्धि हो तो धर्मकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अधर्मसे भी वृद्धि होती है, कल्याण भी देखनेमें आता है, शत्रुपर विजयकी प्राप्ति भी होती है; पर अन्तमें समूल नाश होता है। अतः उस वृद्धिको ( क्षणिक ) उदय कहा जा सकता है, अभ्युदय नहीं।

इस समय विज्ञानका उदय हुआ है, अश्रुतपूर्व उन्नतियाँ देखनेमें आती हैं; परंतु फल इसका यह हो रहा है कि सम्पूर्ण संसारके लिये खतरा पैदा हो गया है और दूरदर्शी लोग सम्पूर्ण संसारका नाश उपस्थित देख रहे हैं। कोई मार्ग दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है, जिससे इस खतरेसे पार पा जायँ। सभी शान्तिकी दोहाई देते हैं, प्रयत्न भी करते हैं; परंतु सर्वनाशकारी युद्धके निकट अवश होकर खिंचे चले आ रहे हैं।

कारण यह है कि उनकी साधना सदोष है। उन्होंने अभ्युदय और निःश्रेयसके अनिवार्य साधन धर्मका बहिष्कार कर रक्खा है। केवल अर्थकी दृष्टिसे ही सब कुछ देख रहे हैं, और उसी दृष्टिसे देखनेकी शिक्षाका प्रचार कर रहे हैं। विज्ञान इस प्रकारके दृष्टिकोणके परिवर्तनमें सर्वथा असमर्थ है।

यही विज्ञान यदि धर्मसे नियन्त्रित हो तो संसार-का बड़ा भारी कल्याण-साधन कर सकता है। धर्मका नियन्त्रण भङ्ग करके यह संसारके नाशका कारण हो रहा है। यह कहना भी नहीं बनता कि धर्म तो अनेक हैं, पृथक् देशोंमें उनका पृथक्-पृथक् प्रचार है, फिर ऐसा धर्म किसे बतलाया जाय, जिसपर सम्पूर्ण संसार चले। पर वस्तुतः यह बात नहीं है। विशेष मानव-समाजने विशेष धर्म भले ही मान रक्खा हो; पर सामान्य धर्म मनुष्यमात्रका एक है, जिसे 'सनातन धर्म' कहते हैं।

इसका नाम 'सनातन' इसलिये है कि यह सदासे ऐसा ही चला आता है और सदा ऐसा ही रहेगा। इसके नाश करनेका प्रयत्न करनेमें संसार नष्ट हो जायगा और इसीके पालनसे संसारका पालन होगा। इसी तीस लक्षणोंवाले धर्मके किसी अंशविशेषको लेकर अनेक मत—ईसाई-मूसाई आदि स्थापित हुए हैं, उसी अंशके बलसे इनमें चमत्कार दिखायी पड़ता था; जब उनमेंसे उस अंशकी अवहेलना होने लगी, तब केवल आडम्बर अपनी रक्षामें असमर्थ सिद्ध हुआ।

वर्णाश्रम-धर्म और सनातन-धर्म पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। वर्णाश्रम-धर्म एक विशिष्ट समाजका धर्म है, जिसके जन्म और कर्म अवदात हैं और जिसमें संस्कारकी परम्परा अविच्छिन्न चली आ रही है। और सनातन धर्म मनुष्यमात्रका धर्म है, उसके बिना मनुष्य मनुष्यतासे गिर जाता है। ईसाई-मूसाई आदि सभी मतवाले अपने मतोंके कट्टर अनुयायी होते हुए भी, यदि वे संसारकी रक्षा चाहते हैं, सनातन-धर्मका पालन करें; क्योंकि वह अविरोधी धर्म है, वह सभी धर्मोंके लिये प्राणद है और उसके बिना कोई मत टिक नहीं सकता।

भारतवर्ष वर्णाश्रम-धर्म मानते हुए भी जो सहस्रों वर्षसे पददलित हो रहा है—इसका कारण यही है कि उसमें सनातन धर्म शिथिल हो गया है। यदि सनातन धर्मपर यह दृढ़ हो जाय तो इसकी चमक संसारको चकाचौंधमें डाल सकती है। महात्मा गान्धीजी-ने इस तीस लक्षणोंवाले सनातन धर्मके केवल दो लक्षणों ( अहिंसा और सत्य ) को अपनाया; और उससे जो फलसिद्धि हुई, जो चमत्कार हुआ, उसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

क्या अहिंसा और सत्य किसी मतके विरुद्ध हैं? क्या अहिंसा और सत्य बिना कोई मत जीवित रह सकता है? क्या अहिंसा और सत्यके बिना मनुष्य मानव-पदसे च्युत नहीं हो जायगा? इसी भाँति सनातन धर्मके तीसों लक्षणोंकी अनिवार्य आवश्यकता मनुष्य-मात्रको है। लेखके अन्तमें मैं सप्रमाण सनातन धर्मका उल्लेख करूँगा।

अतः धर्म ही मुख्य साधना है। धर्मसे जो संसारका अकल्याण मानते हैं, उन्हें त्रिंशल्लक्षणवान् धर्म-का पता नहीं है; वे इस समयके निष्प्राण वर्णाश्रम-धर्मकी मूर्ति देखते हैं, अथवा अन्य झगड़ालू मतोंकी क्रोधमयी मूर्तिका दर्शन करके धर्मको ही सब अनर्थों-का मूल मान बैठते हैं। उन्होंने कभी त्रिंशल्लक्षणवान् सनातन धर्मकी तेजोमयी मूर्तिका दर्शन नहीं किया; यदि किये होते तो निश्चय उन्हें अवनतमस्तक होकर उसे स्वीकार करना पड़ता। आज भारतमें बड़े-से-बड़ा धर्मविरोधी भी महात्मा गान्धीजीकी कृपासे अहिंसा और सत्यके आगे सिर झुकाता है। क्या कोई इस बातको अस्वीकार कर सकता है कि अहिंसा और सत्यका आदि उपदेष्टा त्रिंशल्लक्षणवान् सनातन धर्मको छोड़कर कोई दूसरा है?

श्रीनारदजी कहते हैं—

नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्महेतवे।
वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम्॥
योऽवतीर्यात्मनोंऽशेन दाक्षायण्यां तु धर्मतः।
लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो बदरिकाश्रमे॥
धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः।
स्मृतं च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति॥
सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥
( श्रीमद्भा० ७। ११। ५-१२ )

'भगवान् अजको नमस्कार करके लोगोंके धर्मके लिये सनातन धर्म कहता हूँ, जिसे नारायणने बतलाया था—जो दाक्षायणीमें धर्मसे अंशद्वारा अवतीर्ण हुए थे, और लोकोंके कल्याणके लिये जो बदरिकाश्रममें तप करते हैं। सर्ववेदमय हरि और वेदज्ञोंसे कही गयी स्मृति धर्ममें प्रमाण है, जिससे आत्मा प्रसन्न हो जाता है। सत्य, दया, तप, शौच, द्वन्द्वसहन, युक्तायुक्तविवेक, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदृष्टि, महात्माओंकी सेवा, प्रवृत्ति-कर्मोंसे धीरे-धीरे निवृत्ति करना, मनुष्योंकी निष्फल क्रियाका विचार, वृथालापसे निवृत्ति, आत्माका विचार, प्राणियोंमें यथायोग्य भोज्य वस्तुओंका विभाग, प्राणियोंमें आत्मदेवताबुद्धि—विशेष करके मनुष्योंमें। श्रवण, कीर्तन, उसका स्मरण; महान् लोगोंकी जो गति है; उनकी सेवा, पूजा, नमस्कार, दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण—ये मनुष्य-मात्रके परमधर्म हैं। ये तीस लक्षणवाले हैं। हे राजन्! इनसे सर्वात्मा भगवान् तुष्ट होते हैं।'

अतः कहा जा सकता है कि धर्मानुकूल तथा धर्माविरोधी प्रक्रिया ही साधना कहलाने योग्य है। विज्ञान आदिकी भी सिद्धि बिना जाने धर्मसे ही हुई है। चित्तवृत्तिका निरोध योग है। चित्तको पदार्थ-विशेषपर संयम करके जिस प्रज्ञालोकसे वैज्ञानिक नवाविष्कार करते हैं, वह योगके ही प्रभावसे होता है— वे इस बातको नहीं जानते; पर वस्तुस्थिति ऐसी ही है। अतः विज्ञानोन्नतिपर भी धर्मका नियन्त्रण चाहिये, नहीं तो वह एक ऐटम बमसे निर्दय होकर लाखों प्राणियोंका संहार करेगा।

धर्मके नियन्त्रणसे ही सभी साधनाओंके अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि होनेकी सम्भावना है; उसका नियन्त्रण हटनेसे कोई साधना साधना कहलाने योग्य न रह जायगी।

## सत्याग्रह

( लेखिका—आयुर्वेदाचार्या श्रीमती शान्तादेवी वैद्या )

सत्याग्रह अमोघ शस्त्र है, यह कभी निष्फल नहीं होता। भारतका तो सर्वप्राचीन अस्त्र है ही; किंतु सृष्टिके आदिसे ही इसका प्रयोग विभिन्न लोकोंमें भी होता रहा है और सदा सफल ही रहा है। भारतीय इतिहासमें ध्रुव, प्रह्लाद, हरिश्चन्द्र, दिलीप, शिबि, भगीरथ, बभ्रुवाहन, सती, सावित्री आदि अनेक स्त्री-पुरुषोंने विभिन्न उद्देश्योंके लिये विभिन्न प्रकारोंसे सत्याग्रह किये हैं, और वे सदा-सर्वदा सर्वतोमुखी फलदायक सिद्ध हुए हैं।

सत्की प्रतिष्ठाके लिये असत्के विरुद्ध जो आग्रह है, उसीका नाम सत्याग्रह है। इसमें स्व-सत्पक्ष-संस्थापनका ही उद्देश्य रहता है, विपक्षियोंके उन्मूलनका नहीं। इसलिये यह उभय दिशि मङ्गलकारक है। इसके लिये शस्त्रास्त्रोंकी आवश्यकता नहीं, बहुसैन्यकी भी अपेक्षा नहीं; थोड़े ही पवित्र संयमशील तपस्वी सत्याग्रहियोंकी आवश्यकता होती है।

क्योंकि उनका संघर्ष बाह्य जड शक्तियोंसे नहीं होता। उनका सीधा संघर्ष अन्तःकरणके उस मनःस्तरसे होता है, जिसमें दूषित और पापिष्ठ वृत्तियाँ छिपी रहती हैं। वह मनःस्तर मानवमात्रका एक होता है। अतः प्रयोक्ताका प्रयोग, सत्याग्रहीका सत्याग्रह प्रयोज्यके वृत्त्यन्तर्विन्दुको ही लक्ष्य बनाता है। इस मौलिक सम्प्रेरणके आहव सत्याग्रहमें कोई शक्ति अन्तराय उपस्थित नहीं कर सकती न ठहर ही सकती है। यह पवित्र, निर्दोष और अजेय है।

### सावधानी

हाँ, इसमें सावधानीकी आवश्यकता है। यह सत्याग्रह कहाँपर किस विधिसे कितने व्यक्तियोंद्वारा किस सीमातक प्रयोग किया जाय, यही सत्याग्रह-कौशल है। अधिष्ठान, कर्ता, करण, विविध चेष्टाएँ और दैव—ये पाँच कारण भी विशुद्ध और अनुकूल होने चाहिये; तभी इसका प्रयोग अमोघ फलप्रद होता है।

### अकेला सत्याग्रही

केवल एक ही सत्याग्रही सरकारपर विजय प्राप्त कर सकता है, कारण कि मौलिक स्तर सम्प्रेरणपरा प्रकृतिके जीवभूत सम्पूर्ण चेतन जगत्में कम्पन, क्षोभ अथवा प्रशमन उत्पन्न कर सकता है। इसमें देश और कालकी भी अपेक्षा नहीं, इसका संकल्प कभी नष्ट नहीं होता। एक बार जो उसने तय कर लिया, वह होकर ही रहता है। सत्याग्रहीकी शक्ति और संकल्प हमेशा तुल्य हों, ऐसा नहीं होता। कभी-कभी अल्प तपस्वी भी उच्च संकल्प कर बैठता है; ऐसी स्थितिमें संकल्प-पूर्तिके पूर्व ही उसके प्राण चले जाते हैं; किंतु उसका प्रण पूर्ण होकर ही रहता है, उसके अधूरे कामकी—संकल्पकी पूर्ति अन्य शिष्टाप्त पुरुषोंद्वारा होती है।

इस प्रकार सत्याग्रहीकी शक्ति निष्फल हो सकती है, किंतु प्रण—संकल्प सर्वथा सफल होता है·········प्रान जाहिं बरु बचनु न जाई।

सत्याग्रहीकी मृत्यु कभी होती ही नहीं; हाँ, प्रणपूर्तिके लिये प्राण जाते हैं। उसकी अर्जित विचारधारा, परिचालित कर्मसूत्र-शृङ्खला, संयमित संलग्न भावनाकी शक्ति-स्फूर्ति लेकर प्राण तादृश प्रणप्रिय व्यक्तियोंमें प्रविष्ट हो जाते हैं। इससे उनका प्राण प्लावन होकर द्विगुणित स्फूर्ति आ जाती है, और उस अल्पशक्ति सत्याग्रहीका जीव प्रण-पूर्त्यर्थ अपने आराध्य इष्टदेवके चरणोंमें अभिनव प्राण, अत्युग्र शक्ति, अनन्तस्फूर्ति लेने पहुँच जाता है, वहाँसे इन्हें लेकर फिर लौटता है, यदि उस सत्याग्रहीका प्रारब्ध शेष है। प्रणपूर्तिकी तथा

नहीं है तो जन्म लेकर यथासमय प्रणपूर्ति करके प्रारब्ध भोगता है। और यदि सत्याग्रहीका प्रारब्ध क्षय हो चुका है, जीवन्मुक्त है, वह तो यह इष्टचरण-प्राप्त सारी शक्ति प्रण-पूर्त्यर्थ किसी अधिकारी व्यक्तिविशेषमें अर्पितकर स्वयं मुक्त हो जाता है। ऐसी स्थितिमें उस व्यक्तिविशेषद्वारा प्रणपूर्ति तत्क्षण होती है।

यह व्यष्टिकी समष्टिपर विजय है, इसे व्यक्तिगत सत्याग्रह कहा जाता है।

## वैयक्तिक और सामूहिक

व्यक्तिगत सत्याग्रह और सामूहिक सत्याग्रहमें लक्ष्यदृष्ट्या सिद्धान्ततः कोई अन्तर नहीं है। कार्य और दायित्वकी दृष्टिसे इनमें अन्तर होता है। साध्यभेद न होते हुए भी साधन-भेद स्वचक्र और परचक्रमें कुछ करना पड़ता है। एकाधिकारी और एक लक्ष्यके प्रति व्यक्तिगत सत्याग्रह एवं अनेकाधिकारी प्रजातन्त्र और एकाधिक लक्ष्यके प्रति सामूहिक सत्याग्रह होता है। यह विधि मानवशक्तिकी दृष्टिसे है, सत्यकी शक्तिसे नहीं। सत्यकी शक्ति महान् है, सत्याग्रहमें सत्याग्रही उसी शक्तिका आश्रय लेकर दुर्धर्ष विपक्षीके प्रति अपना प्रयोग प्रारम्भ करता है—

सुने री मैंने निर्बल के बल राम।

सत्याग्रहीकी पुकारसे देर सबेरमें उस ज्वलन्त अजेय अपरिमेय दिव्य सत्य-शक्तिका आविर्भाव अवश्य होता है। उस समय दोनों वैयक्तिक या सामूहिक सत्याग्रह एक हो जाते हैं। यह सत्याग्रहकी सिद्धावस्था है। साधकावस्थाके साधन जैसे सिद्धावस्थामें सिद्धके स्वतःसिद्ध लक्षण हो जाते हैं, वैसे ही सत्यशक्ति की बात है।

## धार्मिक शस्त्र

सत्याग्रह विशुद्ध धार्मिक शस्त्र है। सत्य धर्मका मुख्य लक्षण है, उसकी प्रतिष्ठामें ही इसका प्रयोग है; किंतु सत्य इतना व्यापक है कि उसके आधारपर सभी नीतियाँ चलती हैं। अतः किसी भी नीतिकी गड़बड़ी या उच्छृङ्खलतामें इसका प्रयोग हो सकता है। इसीलिये इसके विभिन्न नामकरण भी हुए हैं।

## राजनीतिक सत्याग्रह

शासकोंकी उच्छृङ्खल नीतिके विरुद्ध जो सत्याग्रह किया जाता है, उसीको राजनीतिक सत्याग्रह कहते हैं। राजनीति सीमित है, उसकी एक निश्चित परिधि है—'राज्ञां नीतिर्नृपाणां परस्परव्यवहारनीतिः।' राजाओंकी नीति जो शासकोंके परस्पर व्यवहारमें प्रयुक्त होती है, अन्ताराष्ट्रिय भी इसीमें है। सत्यानृतादि लक्षणयुक्त राजनीति परस्पर राजाओंमें होती है। किंतु प्रजाओंसे व्यवहारमें उसका वैसा रूप नहीं होता। वहाँ तो वह धर्मनीतिके अंदर ही शुद्धरूपसे व्यवहृत होती है; व्यवस्था-पालन उसका रूप, संरक्षण संवर्धन और संचालन उसके कार्य। राजनीति जब अपनी सीमा अतिक्रमण करती है या सीमान्तरीय कार्य ही कुकार्य बनते हैं, तब प्रतिकारकी बात आती है। आजका शासक राजनीतिको व्यापक—असीम बना रहा है। प्रत्येक नीतिको राजनीतिपर कुर्बान करके व्यवस्थापालकके बजाय नव-व्यवस्थास्थापक बन रहा है।

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।
न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं कथञ्चन।
भोक्ता यज्ञस्य कस्त्वन्यो ह्यहं यज्ञपतिः प्रभुः॥

जैसी कानूनी भेरी-घोषणाप्रवृत्त शासकसे प्रजा 'दारुण्युभयतो दीप्त इव तस्करपालयोः' (ऐसे वेन-शासनमें) उभयतः दग्ध होने लगती है, तब पवित्र व्यवस्था-संरक्षणार्थ जो शामक उपाय विशिष्ट पुरुषोंद्वारा या जनताद्वारा किया जाता है उसीका नाम राजनीतिक सत्याग्रह है।

## आस्तिक ही अधिकारी

सत्याग्रह किसी प्रकारका हो—चाहे राजनीतिक हो, सामाजिक हो या आर्थिक हो—वह धार्मिक ही होगा। उसके करनेका अधिकारी केवल आस्तिक ही है, जो धर्मनिष्ठ सदाचार-परायण दृढ़प्रतिज्ञ और निःस्वार्थी हो। प्रयोज्यके प्रति यह अपेक्षा नहीं कि वह नास्तिक है या आस्तिक, अपना है या बिराना। उसकी आस्तिकता या नास्तिकताका प्रभाव प्रयोक्ता (सत्याग्रही) पर नहीं पड़ता। आस्तिक सत्याग्रही निःस्वार्थी होनेके कारण किसीका प्रभाव नहीं ग्रहण करता। यह स्वयं प्रभावक्षेता होता है। एकलक्ष्य होकर कार्यसिद्धिके पूर्व विराम नहीं लेता। ईश्वर उसकी सहायता करता है। निःस्पृह होनेके कारण वह इसे हँसने-खेलने-जैसा 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' रूपी युद्ध मानता है, सत्याग्रहमें कभी असफलता होती ही नहीं।

# हमारी आध्यात्मिक संस्कृति

( लेखक—डा० बी० भट्टाचार्य, एम्० ए० )

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳬसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

हम कानोंसे कल्याण-ही-कल्याणकी बातें सुनें और यज्ञ-यागादि कल्याणकारी कामोंको करते हुए कल्याण-ही-कल्याण आँखोंसे देखें भी। हृष्ट-पुष्ट शरीरसे सपरिवार परमात्माको प्रसन्न रखते हुए उन्हींके लिये पूर्णायु जीवनका उपभोग करें।

अखिल भारतीय अध्ययनक्षेत्रके अन्यतम आकर्षक अध्ययनोंमेंसे है आध्यात्मिक संस्कृतिका अध्ययन। इसका विशेष कारण है वह यह कि भारतवर्ष ही केवल ऐसा देश है, जिसने अवर्णनीय सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभेदों और विस्तारोंके सहित आध्यात्मिक संस्कृतिका नानाविध साङ्गोपाङ्ग शृङ्खलाबद्ध साहित्य समुपस्थित किया है।

स्थूल रीतिसे संस्कृतिके दो प्रकार हैं—एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। पहलेका सम्बन्ध भौतिक साधनोंकी उन्नति करनेसे है और दूसरेका आध्यात्मिक साधनोंकी उन्नति करनेसे। ठीक जिस प्रकार शरीरके लिये व्यायामोंका विधान है, उसी प्रकार मस्तिष्कके लिये आध्यात्मिक साधनाओंका संविधान है। वर्तमान लेखका सम्बन्ध इसी पिछले विषयसे है।

निस्सन्देह भारतवर्ष ही ऐसा देश है, जो मनुष्यकी आध्यात्मिक उन्नतिके साधनोंकी साधना करनेके लिये एकान्त उपयुक्त है।

केवल भारतने ही मानवजीवनके आध्यात्मिक अङ्गकी बलि देकर एकाङ्गी भौतिक उन्नतिमें कदापि विश्वास नहीं किया। भारतके इतिहासमें कहीं भी हमें आध्यात्मिक संस्कृतिपर भौतिक संस्कृतिकी विजय देखनेको न मिलेगी। धर्मपर दृढारूढ रहनेवाले राजा और मन्त्री प्रशंसाके पात्र हुए हैं। धर्मकी वेदीपर शाश्वत बलि होनेके लिये ही राजाका जीवन माना गया है। सामाजिक और राजनीतिक नियम धर्मपर आधारित हैं और वे धर्मशास्त्रोंके अविच्छिन्न अङ्ग हैं।

विश्वके तीन महान् अर्थात् हिंदू, बौद्ध और जैन धर्म-मार्गोंका जन्मदाता भारतवर्ष ही है। यहींपर बौद्ध और जैन-दर्शनोंकी अभिवृद्धिके साथ-ही-साथ हिंदुओंने षड्दर्शनोंका विकास किया।

असंख्य मन्दिर और मठ हमारे पूर्वजोंके इस प्रयासी देशको सुशोभित एवं यहाँके वातावरणको पावन कर रहे हैं। इस देशका प्रत्येक व्यक्ति पाप और पुण्यके महान् सिद्धान्तोंसे अवगत है, और जनता प्रायः साधारणतया परलोकमें विश्वास करती है।

इन तथा अनेकों अन्य अनुकूल वातावरणोंके कारण यह देश आध्यात्मिक संस्कृतिके विकासके लिये चिरकालतक सर्वोत्तम स्थान माना जाता रहा। प्राचीनतम साहित्यमें हमें मुनियों और यतियोंके वर्णन मिलते हैं, जिन्होंने आत्मबलोत्कर्षके लिये अपना सारा जीवन ध्यान, तप और कठोर नियम-व्रतपालनमें लगा दिया। चतुर्थाश्रमके संन्यासी अपना जीवन शाश्वत ब्रह्मप्राप्तिमें खपा देते थे। बौद्ध और जैन भिक्षु अब भी पाये जाते हैं, जो अदृष्टलोककी प्राप्तिके लिये संसारको त्यागकर सभी प्रकारके उग्र कठोर नियमव्रतोंका पालन कर रहे हैं।

प्राचीन ऋषियोंने पहले ही पता लगा लिया था कि इस पदार्थ और ब्रह्ममय जगत्में सर्वदा पिछला अगलेपर अधिकारी रहा करता है। अतएव इसपर अधिक ध्यान देनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसका अनुभव वर्तमान युगमें उसी प्रकार नहीं किया जा रहा है। वे सर्वदा यही कहते रहे कि मानवमात्रके अन्यतम लाभके लिये भौतिक साधनोंकी उन्नतिके साथ-ही-साथ आध्यात्मिक साधनोंकी उन्नति करना वाञ्छनीय है।

साधारणतया विश्वास किया जाता था कि भौतिक साधनोंकी उन्नति करके जो कुछ सम्भाव्य है, वही मस्तिष्कके साधनोंकी उन्नति करनेसे प्राप्य है। यदि हम तारसे समाचार भेज सकते हैं तो योगी विचारशक्तिद्वारा उसी कार्यको करनेमें समर्थ है। यदि हम दूरके दृश्य टेलीवीज़नद्वारा देख सकते हैं तो योगी अपनी आध्यात्मिक शक्तिद्वारा उसीको दिखानेमें सक्षम है।

कम-से-कम यह सार्वलौकिक धारणा केवल साधारण जनताकी ही नहीं है अपितु तन्त्रोंके विशाल साहित्यके निर्माताओं और ज्ञाताओंकी भी, जिनमें अलौकिक शक्तिलाभके लिये अगणित अतिसूक्ष्म आध्यात्मिक साधनाएँ बतायी गयी हैं।

गण्य-मान्य विद्वान् तन्त्रसाहित्यका यह कहकर बराबर

तिरस्कार करते चले आ रहे हैं कि उसमें निरर्थक और घृणित अभ्यासोंके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। उनके लिये यह साहित्य कूड़ा-करकट है, जिसमें शिक्षाकी दृष्टिसे कुछ भी उपादेय नहीं। तन्त्र इस कारण बुरे हैं कि वे सदाचरणके मान्य विचारोंके प्रतिकूल अभ्यासोंका विधान और वैज्ञानिक दृष्टिसे महत्त्वहीन बातोंकी चर्चा करते हैं।

भूतकालमें इस महान् साहित्यपर जो बौछारें हुई हैं, उनका एक क्षणके लिये भी समर्थन नहीं किया जा सकता। सत्य है कि यह सम्प्रति हमें कोई सहायता नहीं दे सकता, जब कि हम भौतिक हितके लिये प्रयत्नशील हैं। तन्त्र इसलिये निरर्थक गिने जा सकते हैं कि वे अर्थलाभ करानेमें पङ्गु हैं। वे महत्त्वहीन इसलिये हैं कि अर्थान्वेषणका वर्तमान वातावरण आध्यात्मिक साधनाओंके लिये अत्यन्त अनुपयुक्त है।

किंतु एक अर्थमें तन्त्र अपूर्व हैं। विश्वके किसी साहित्यमें हमें आध्यात्मिक साधनाओंकी वह पद्धति प्राप्त नहीं हो सकती, जो तन्त्रों और तत्सम्बन्धी साहित्यमें भरी पड़ी है। तन्त्र निर्देश करते हैं कि किस प्रकार कोई व्यक्ति, ज्यों-ज्यों वह चिरकालीन एकनिष्ठ ध्यानके अभ्यास तथा अनेकों अवस्थाओंसे होता हुआ ब्रह्मानुभूतिके मार्गमें उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों आध्यात्मिक साधनाओंमें प्रवीण हो सकता है और अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रकारके योगकी विभूतियाँ एवं सर्वप्रकारकी गूढ़ शक्तियाँ प्राप्त कर सकता है। तन्त्रोंमें मनुष्यके भीतर निहित दैवी शक्तिपर सबसे अधिक बल दिया गया है, जिसको जाग्रत् कर कोई साधक अपने स्रष्टासे साक्षात् कर सकता है।

इस तन्त्रसाहित्यका इस प्रकारका ज्ञान आधुनिक युगमें हमी व्यावहारिक उद्देश्योंके लिये एकदम निरर्थक है; क्योंकि हमें इस समय इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। वर्तमान सभ्यताके कुठाराघातसे हमें अपने स्रष्टाके विषयमें सोचनेके लिये समय या अवसर ही कहाँ। रुपये कमानेके उद्देश्यसे हम अपने दफ्तर जाने अथवा वृत्ति या व्यापार करनेमें लगे हुए हैं। इनके अतिरिक्त हमें लोगोंसे मिलना-जुलना तथा भोज, नृत्य, मीटिंगों, सभाओं और क्लबोंमें सम्मिलित होना रहता है, यात्राएँ करनी रहती हैं और विनोदके लिये परिवर्तन करने रहते हैं। तन्त्रोंको निरर्थक कह सकते हैं; क्योंकि आधुनिक कालके इन कामोंसे सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञान उनमें नहीं हैं। इसपर किञ्चित् कोई मतभेद नहीं। वास्तवमें दुःख तो इस बातका है कि वर्तमान युगमें हम मानव-मस्तिष्कके उस सुन्दर सूक्ष्मभावसे भी हाथ धो बैठे हैं, जिसको 'गुणोंका आदर करना' कहते हैं। सचमुच हम इतने कुण्ठित हो गये हैं कि विरले ही अपने पूर्वजोंके उन प्रयत्नोंके प्रशंसक हो सकते हैं, जो मस्तिष्ककी और आध्यात्मिक शक्तियोंके पूर्णतया विकसित करनेके लिये ऐसी योजनाके अनुसार विहित हैं कि जिसको विश्वमें अन्यत्र मानव-मस्तिष्क कदाचित् सोच न पाया था।

भौतिक संस्कृति और अभिवृद्धिकी आज तूती बोल रही है। आश्चर्यमें डालनेवाले इसके कार्य हैं और इसकी सफलता महान् है। विश्वके राष्ट्र इससे मदोन्मत्त हैं तथा देश-देश इसकी महान् सफलतासे सन्तुष्ट हैं; किंतु मस्तिष्ककी गति अगम्य है। अब यह किसी अन्य वस्तुके लिये लालायित है। यह वह वस्तु चाहता है, जिससे शान्ति और विश्राम मिले। इसे आत्माका भोजन चाहिये। भौतिक उन्नतिसे इसका जी पक गया है। इसकी रुझान अब आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर है। संसारका ध्यान एक बार जीवनके आध्यात्मिक अङ्गपर गड़ जानेके पश्चात् इसको पता चल जायगा कि हमारे पूर्वजोंने कितनी विस्मयावह पैतृक सम्पत्ति हमारे लिये तन्त्रग्रन्थोंमें छोड़ रक्खा है, जिससे हम जीवनके सभी अवसरोंपर अपनी आध्यात्मिक शक्तियोंकी सेना सजा सकते हैं।

इस छोटे-से लेखको समाप्त करनेके पहले मैं तन्त्रोंके विषयोंकी प्रधान विशेषताओंमेंसे एकको बता देना चाहता हूँ। जैसा पूर्वमें कहा जा चुका है, इस साहित्यके विषयोंका सम्बन्ध अधिकतर अध्यात्म या अपरोक्षसे है। वे असाधारण आध्यात्मिक साधनाओंसे भरे पड़े हैं, जिनसे मस्तिष्ककी शक्तिका विकास हो सके। किसी व्यक्ति या समुदायके लिये उपयुक्त साधनाओंका विधान करनेमें निर्माताओंको सभी सम्भाव्य सम्भूत पदार्थोंका गूढ़ महत्त्वाङ्कन एवं आध्यात्मिक साधनाओंके कार्यक्रममें उनका उचित-स्थान निर्धारण करना पड़ा है।

तन्त्रोंके निर्माता तो स्वयं भगवान् शिव और उनकी चार्वङ्गी अर्धाङ्गिनी भगवती पार्वती मानी गयी हैं जो परस्पर सम्भाषण करनेवाली अङ्कित हुई हैं। वे समस्त पदार्थोंके गूढ़ मूल्याङ्कन करते हैं। उदाहरणार्थ मन्त्रयोगीके लिये पहले-पहल वर्णमालाके अक्षरोंकी आवश्यकता होती है। अतएव प्रत्येक अक्षरकी अलग-अलग जाँच हुई है, उसका गूढ़ मूल्य निश्चित किया गया है और क्रियाविधिमें उसका उचित स्थान स्थिर हुआ है। यह भी कहा गया है कि अमुक अक्षरसे अमुक प्रकारकी सिद्धि प्राप्य है। प्रत्येक अक्षरके अधिष्ठाता देव अथवा अधिष्ठात्री देवी उसके स्वरूपके साथ बतायी गयी हैं।

वर्णमालाके अक्षरसंयोगोंसे सम्मिश्रित शक्तिशाली

मन्त्रोंका निर्माण होता है और इस प्रकार तन्त्र विभिन्न संयोगोंकी विशेषताएँ बताते और विभिन्न फलोंकी प्राप्तिके लिये उनके जपनेके विस्तारपूर्वक आदेश देते हैं। अधिष्ठाता देव या अधिष्ठात्री देवी केवल मूर्तिमान् मन्त्रके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। अतएव विभिन्न देवी-देवताओंकी पूजाके सम्बन्धमें एक विशेष भाग ही बन गया है।

मन्त्रोंका जप करनेके लिये दूसरी आवश्यक वस्तु है माला। उन सभी विभिन्न पदार्थोंकी जाँच की गयी है, जिनसे माला बन सकती है और उनके गूढ़ मूल्योंका निर्धारण हुआ है। किसी विशेष आराधनविधिमें कौन-सी विशेष माला इष्टकारी अथवा अनिष्टकारी होगी, यह ब्यौरेवार वर्णित है। माला रुद्राक्ष, काँचके दानों, स्फटिक, कौड़ियों, मूँगों, हीरों, मरकत, मानिक, हड्डियों और अनेक अन्य पदार्थ की बन सकती है। इन सबके अपने-अपने भाव, महत्त्व और प्रयोग हैं। तन्त्रोंमें बताया गया है कि अमुक-अमुक मालाएँ, जो शिवाराधनके लिये सर्वोपयुक्त हैं, शक्तिकी आराधनाके लिये हानिकर हैं। कुछ पदार्थ, जिनका प्रयोग ताराके लिये होता है, काली अथवा सुन्दरीके लिये वर्जित हैं। कुछ मालाएँ ऐसी हैं कि वे एक सप्ताहके भीतर सिद्धि प्राप्त करा सकती हैं, जब कि दूसरी मालाओंसे उसीके लिये एक पक्ष, एक मास अथवा एक वर्षतक लग जा सकता है।

मन्त्रोंका जप करनेके लिये उपयुक्त समय होना चाहिये। मङ्गल मुहूर्त निकालनेके लिये तन्त्रोंमें दिनकी विभिन्न घटिकाओं, तिथियों, नक्षत्रों, महीनों, ऋतुओं और वत्सरोंके गूढ़ गुणोंकी जाँच की गयी है। देवी-देवताओं और आराधना-विशेषके सम्बन्धमें इन मुहूर्तों की जाँच होकर उनके गूढ़ मूल्योंका निर्धारण हुआ है।

मन्त्रोंका जप करनेमें पदार्थविशेषके बने आसनोंका महत्त्व माना गया है। तन्त्रोंमें सूत, ऊन, लकड़ी, धातु अथवा चमड़े-जैसे विभिन्न पदार्थ के बने विभिन्न आसनोंके गूढ़ मूल्यकी जाँच की गयी है। विभिन्न पशुओंकी सवारीपर रखनेसे आसनोंका विभिन्न गूढ़ गुण हो जाता है। वे यह भी बताते हैं कि अमुक-अमुक आसनोंके प्रयोगसे कौन-कौन-सी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

आध्यात्मिक साधनाओंके निमित्त प्रयुक्त होनेवाले अनेकों आसनोंमेंसे श्मशानभूमिके शवासनको तन्त्रशास्त्रोंमें विशेष महत्त्व दिया गया है। शवसे सम्बन्धित उग्र नियम-व्रतोंकी एक परिपाटी है, जिसे सामूहिक रूपसे शवसाधना कहते हैं। तन्त्रोंके अनुसार यह आसनविशेष कुण्डलिनी शक्तिको शीघ्र जाग्रत् करनेके हेतु सर्वोपयुक्त है, जब कि साधना जुगुप्सापूर्ण भयङ्कर स्थितियोंमें की जाती है। अतएव तन्त्रोंमें मनुष्यों, स्त्रियों, बच्चों, अछूतों और नाना अवस्थाओं-में मारे गये हुए लोगोंके विभिन्न प्रकारके शवोंके गूढ़ मूल्यकी जाँच की गयी है। हथियारोंसे मारे गये लोगोंके शवका गूढ़ मूल्य कुछ है, विषसे मारे गये लोगोंके शवका कुछ और ही, व्यापक रोगोंसे मरे हुए लोगोंके शवका तीसरे प्रकारका, सम्राट्‌की आज्ञासे मारे गये हुए लोगोंके शवका चौथे प्रकारका इत्यादि-इत्यादि।

मन्त्रोंका जप करनेके लिये उपयुक्त स्थान चाहिये। सम्मत उपयुक्तताके स्थानका निर्धारण करनेके लिये तन्त्र-शास्त्र भारतवर्षके सभी महत्त्वपूर्ण स्थानोंके गूढ़ गुणोंकी जाँच करते हैं और तत्र विभिन्न मन्त्रों और उनके अधिष्ठाता देवता अथवा अधिष्ठात्री देवीके सम्बन्धमें उनकी सामर्थ्य स्थिर करते हैं। इस प्रकारके निश्चित स्थान आज भी सिद्धपीठ (अर्थात् वे स्थान, जहाँ मन्त्रोंके जपसे अलौकिक शक्तिकी प्राप्ति होती है) के नामसे प्रसिद्ध हैं।

तन्त्रोंमें अग्निके लिये घृताहुतिका देना महत्त्वपूर्ण क्रिया है। विभिन्न प्रकारकी समिधासे अग्नि प्रज्वलित की जाती है। अतएव समिधोपयोगी विभिन्न प्रकारके वृक्षोंका, उनके गूढ़ गुणोंकी जाँच होकर, निश्चय हुआ है। सरसरी तौरपर कहा जा सकता है कि घृताहुति मन्त्रभैषज्य अर्थात् टोटका-विज्ञानका अङ्ग है। विभिन्न पत्तियाँ और डालें नाना प्रकारके विशेष रोगोंमें प्रयुक्त होती हैं।

इस प्रकारके उदाहरणोंको बढ़ाते जाना सरल है; किंतु आवश्यकता नहीं। ऊपर तन्त्र-साहित्यके केवल एक आकारका दिग्दर्शन हुआ है। तन्त्रोंद्वारा निश्चित शक्तियोंकी जाँच वैज्ञानिक ढंगसे नहीं की जा सकती। जिस समय विज्ञान तन्त्रोंके निर्णयोंकी सचाईकी जाँच करनेमें समर्थ हुआ, उसी समय भौतिक और आध्यात्मिक विज्ञानोंका भेद मिट जायगा। तन्त्र बराबर एक बातपर बल देते आ रहे हैं। वह यह कि आन्तरिक आत्मबलको, जो कुण्डलिनी शक्तिके नामसे प्रसिद्ध है, जाग्रत् करना। इसीसे विभिन्न स्थितियों और अवस्थाओंमें ध्यानमग्न होकर ब्रह्म-प्राप्तिकी साधना सम्भव है।

यदि निपुण विद्वानोंका ध्यान मानव-संस्कृतिके इस आकर्षक अङ्गपर आकृष्ट हो जाय तो निश्चय ही मानव-समाजका उपकार हो।

—श्री प्र० गुप्त

# सांस्कृतिक झलक

## एक सत्य साहित्यिक और ऐतिहासिक घटना

( लेखिका—श्रीमती विद्याकुमारी )

गुरुके ज्ञानपर मुग्ध श्रद्धालु एवं जिज्ञासु श्रीप्राणनाथजी अपने अवगुणोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर निकाल रहे थे । अपने शरीरको वे उस ब्रह्मात्माका अधिकारी बनाना चाहते थे, जो गुरुसे पूर्ण ज्ञान प्राप्तकर उन्हींमें मिल जाय । गृहपत्नीके समस्त आभूषण साधुजनोंके सेवाहेतु अर्पण हो चुके थे । सत्सङ्ग जीवनका मुख्य कार्य था । गौण कार्य धन-उपार्जन था, परंतु अपने शरीरके लिये वह भी नहीं । शरीर तो ढाई तोले भोजन ग्रहण करनेका ही अधिकारी था । देहका बोझ दिनों-दिन घटता जा रहा था । कामवासना और अन्य दोषोंको ऐसे शरीरसे क्या काम । वे तो स्वयं ही कोसों दूर भाग चुके थे । बचपनमें ही विवाह हो जानेपर भी श्रीप्राणनाथजी आजीवन ब्रह्मचारी रहनेका प्रण मन-ही-मन ले चुके थे ।

साध्वी फूलवती पतिकी इन भावनाओंपर अत्यन्त प्रसन्न थीं । अन्य कई नारियोंकी भाँति पतिको कुपथपर लानेकी चेष्टा उन्होंने कभी नहीं की थी । वे अपनी दैनिक आवश्यकताओंके लिये भी पतिको तंग नहीं करतीं वरं इन्हें स्वयं ही पूर्णकर यथाशक्ति अपने पतिकी भी सहायता करती थीं । पतिके प्रयत्नोंकी फलसिद्धिको ही वे जीवनका उद्देश्य मान चुकी थीं ।

सद्गुरु श्रीदेवचन्द्रजी श्रीप्राणनाथजीको पहचानते थे । वे उनकी कई बार परीक्षा लेनेके उपरान्त इस निर्णयपर पहुँचे थे कि उनके शिष्योंमें श्रीप्राणनाथजी ही सर्वश्रेष्ठ एवं गुणग्राहक हैं । उनके धाम-गमनके उपरान्त विहारीजी गुरु-पुत्र होनेके नाते गुरुगद्दीपर विराजमान हुए । वे स्वयं नियमबद्ध जीवन व्यतीत करते थे और तनिक कड़े स्वभावके थे । किसी भी व्यक्तिको नियम भङ्ग करते देख क्रोधित हो जाते थे । एक बार किसी व्यक्तिपर क्रुद्ध होकर उन्होंने उसे सदाके लिये सत्सङ्ग-मण्डलसे निकाल दिया । वह व्यक्ति श्रीप्राणनाथजीके घरपर पहुँचा, परंतु उन्हें वहाँ उपस्थित न देखकर निराश हो गया । साध्वी फूलवतीने उन्हें अतिथि समझकर उनका भलीभाँति स्वागत किया और पतिके घर पधारनेतक उनको घरपर ही ठहरनेकी आज्ञा दे दी ।

उधर श्रीप्राणनाथजी अपने कार्यसे निपटकर घर जा रहे थे। मार्गमें नियमानुसार गुरुदर्शनको मन्दिरमें पधारे । परंतु गुरुने उन्हें देखते ही मुँह फेर लिया । कारण पूछनेपर गुरुजीने रोषभरे शब्दोंसे कहा, 'जिस व्यक्तिको हम निकाल दें, उसे तुम्हारे घरमें सम्मान मिले—हम इसे कदापि सहन न करेंगे । अब या तो तुम गृह त्याग दो अथवा हम तुम्हें त्याग देंगे ।'

श्रीप्राणनाथजीके सम्मुख महती समस्या थी । यह उनकी कड़ी-से-कड़ी परीक्षाका समय था । एक ओर गृह, दूसरी ओर धर्म; एक ओर निर्दोष साध्वी पत्नीका त्याग, दूसरी ओर कर्तव्य; कर्तव्य-विमूढ़-से होकर श्रीप्राणनाथजी कुछ क्षण खड़े रहे । उसी क्षण उनके सामने आदर्श श्रीराम-सीताका चरित्र घूमने लगा—'कर्तव्यपर, धर्मपर, मुझे गृहका मोह छोड़ देना होगा ।' उन्हें निश्चय करते देर न लगी । दृढ़तापूर्ण शब्द उनके मुखसे निकले । 'मैं घर नहीं जाऊँगा ।' स्वामीजी फिर घर नहीं गये !

सती फूलवती पतिका आशय समझ गयीं । पतिको बुला भेजनेका साहस भी उन्हें नहीं हुआ । हाँ, विरह और वियोग-की अग्निसे अपने शरीरको भस्मीभूत करके वे सती हो गयीं । मरते समय अपने पतिको उन्होंने यही सन्देश भेजा कि 'मेरी चिताके साथ अपने चरण छू देना, इससे मेरी आत्माको शान्ति प्राप्त होगी ।' धन्य हिंदू नारी !

उसी दिनसे श्रीप्राणनाथजी सभी सांसारिक कार्योंका त्यागकर अपने सद्गुरुके सिद्धान्तोंका प्रचार करनेमें ही जीवन व्यतीत करने लगे । विहारीजी वहीं गद्दीपर रहे और श्रीप्राणनाथजी दूर-दूर देशोंमें पैदल भ्रमण करके अपने उद्देश्यको पूर्ण करने लगे । और कई लोग इस पवित्र काममें उनके साथ हो गये ।

× × ×

सोलह वर्ष उपरान्त श्रीप्राणनाथजी किसी गाँवमें एक कुएँके निकट ठहरे । शिष्यगण भोजन-सामग्री जुटानेमें व्यस्त थे । सायंकालका समय था । एक कन्या अपने पिताके साथ कुएँपर जल भरने आयी । अपरिचित व्यक्तियोंको पिता-पुत्री कुछ देरतक देखते रहे । सहसा युवतीने मटका सिरसे उतारकर नीचे रख दिया और घूँघट निकालकर खड़ी हो गयी । पिताके क्रोध और आश्चर्यकी सीमा न रही ।

'किससे घूँघट निकाला है ?'

'वे मेरे पति हैं।'

'वे साधु ?' पिता आश्चर्य-चकित थे। 'हाँ, वे मेरे पिछले जन्मके पति हैं। मरते समय उनके दर्शनोंकी अभिलाषा मेरे मनमें रह गयी थी। इसीसे मेरा आपके गृहमें जन्म हुआ। पिताजी! धृष्टता क्षमा कीजिये। अपनी पुत्रीको आशीर्वाद देकर उनके साथ छोड़ आप सहर्ष घर पधार सकते हैं।'

निरुत्तर होकर पिता अपनी पुत्रीको ले स्वामीजीके पास आये। वे पहलेसे ही पिता-पुत्रीका वार्तालाप सुन रहे थे। कौतूहलवश उन्होंने पूछा—'तुम मेरी पत्नी थीं, इसका प्रमाण ?' 'आपको भी प्रमाणकी आवश्यकता है, स्वामी ?' तेजकुँवरि पतिके चरणोंपर लोट पड़ी। श्रीप्राणनाथजी कोई उत्तर न दे सके। इतना अवश्य कहा—'तो तुम्हें अन्य शिष्योंकी भाँति मेरे साथ नियमोंका पालन करते हुए रहना होगा।'

'अपने चरणोंसे अलग न कीजिये, स्वामी! मेरे मनमें और कोई अभिलाषा नहीं।'

श्रीप्राणनाथजीने अपने जीवनमें महान् कार्य किये। आदरणीय वीर छत्रसालके गुरु बने, हिंदू जनताको सुपथ दिखलाया। परमधाम और अक्षरातीतकी सुन्दर लीलाका दिग्दर्शन कराया। श्रीतेजकुँवरिजी उनकी एक प्रिय शिष्या थीं। जीवनके अन्ततक वे उनके साथ रहीं। स्वामीजीके कार्यमें उनका प्रत्येक कार्य, उनकी भावनामें प्रत्येक भावना उत्साहवर्धक सिद्ध हुई।

# धर्मका लक्षण

( लेखक—श्रीयोगनाथजी तर्कशिरोमणि )

'धर्म'शब्दकी अनेक परिभाषाएँ शास्त्रोंमें दी गयी हैं। इनमें धर्मका लक्षण, स्वरूप, उसके पालनकी आवश्यकता, विधि और उसके प्रमाण अवगत होते हैं। इनमेंसे कुछ परिभाषाएँ नीचे दी जाती हैं—

**१—धारणाद्धर्मः।**

( श्रीकृष्ण )

मानवके लिये नरक—अधोगतिके मुख्य कारणोंमें विलासिता, अनेकता ( फूट ), अतिमानिता, स्वार्थपरता ( सत्कार, कीर्ति, धनादिको प्राप्त करनेकी इच्छा ) हैं। इनके चक्करमें पड़कर अधोगतिके गर्तमें गिरते हुए मनुष्योंको जो धारण करता है—पकड़ लेता है, वह 'धर्म' कहा जाता है।

**२—सुगतौ धानाद्धर्मः।**

( हरिभद्रसूरि )

सुगति—उन्नतिके शास्त्रीय मार्ग हैं।* ब्रह्मचर्य, अध्ययन, तप, दान, सत्कर्म ( शारीरिक एवं मानसिक )—इनके द्वारा मनुष्यकी उन्नति होती है। जो इन कर्मोंपर मनुष्यका धान करता है—उसे आरूढ़ करता है, उसे 'धर्म' कहा जाता है। अवनतिसे उन्नतिपर चढ़ानेसे वह 'धर्म' कहा जाता है।

**३—धिन्वनाद्धर्मः।**

( उतथ्य )

आज सर्वत्र वर्गवाद, काला बाजार, घूसखोरी, पद-लोलुपता, देशहितकी उपेक्षा, स्वार्थ-साधनमें तत्परता आदि अधर्मोंका प्राबल्य है और इसीसे संसार अशान्त एवं दुखी है। इस अशान्त एवं दुखी संसारका धिन्वन—प्रीणन एकमात्र धर्म ही कर सकता है। धर्मसे ही यहाँ शान्ति स्थापित हो सकती है, अशान्त शस्त्रबलसे नहीं। शुद्ध एवं शान्त साध्यके लिये साधन भी शुद्ध एवं शान्त ही आवश्यक होता है। धर्म-बलके बिना केवल शस्त्रबल या नियमबल ( कानून ) से स्थायी शान्ति कदापि नहीं हो सकती। अशान्तिका उद्गम-स्थल परस्पर कलह तथा बाह्य आक्रमण है। कलहका मूल-कारण है स्वार्थपरता। धर्मका स्वरूप है—'परोपकारः पुण्याय।' अर्थात् परस्पर एक दूसरेका उपकार ही उन्नतिका कारण होता है। यह भावना जबतक मनुष्यमें दृढ़ प्रतिष्ठित नहीं होगी, तबतक कलहकी वृत्ति शान्त नहीं होगी। और 'अशान्तस्य कुतः सुखम्।' जहाँ शान्ति नहीं, वहाँ सुख कहाँसे होगा। शान्तिकी स्थापना क्षत्रियका कर्तव्य है और धर्म क्षत्रियका भी क्षत्रियत्व है।*

---

* न पापा सो मनामहे, नारायासो न जल्हवः, न पापा इति मन्यामहे, नाधना न ज्वलनेन हीना, अस्ति अस्मासु ब्रह्मचर्यम् अध्ययनं तपो दानं कर्मेति ऋषिरवोचत्।

* स नैव व्यभवत्, तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत्, धर्मस्तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः, तस्माद्धर्मात्परं नास्ति, अथोऽबलीयान्, बलीयांस-माशंसते धर्मेण।

समाजकी उन्नति और उसमें शान्तिकी स्थापना धर्मबलसे ही हो सकती है। अतः धिन्वनात्—शान्ति करनेके कारण धर्म धर्म है। उपर्युक्त तीनों परिभाषाओंमें पतन रोकना, उन्नतिकी ओर ले जाना तथा आपसमें शान्तिकी स्थापना—ये धर्मके लक्षण सिद्ध होते हैं। इनके विपरीत पतन, स्वेच्छाचरण एवं अशान्ति अधर्मके लक्षण हैं।

## धर्ममें प्रमाण

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपने मनको प्रिय लगना—ये चार धर्म-निर्णयमें प्रमाण माने गये हैं। 'स्वस्य च प्रियमात्मनः'का अर्थ 'जो हमारे मनको अच्छा लगे, वह धर्म है—यदि इतना ही लिया जाय तो चोरको चोरी अच्छी लगती है, व्यभिचारीको व्यभिचार प्रिय लगता है; फिर तो उसके लिये वह भी धर्म हो जायगा। अतः इसका अभिप्राय यह है कि हमारे साथ दूसरा यदि वह व्यवहार करे, जो हम दूसरेके साथ करने जा रहे हैं और वह दूसरेद्वारा अपने साथ किये जानेपर हमें प्रिय लगे तो वह धर्म है। दूसरोंद्वारा अपने साथ किया गया जो व्यवहार हमें बुरा लगता है, वही हम दूसरोंके साथ करें तो यह अधर्म होगा। इस अभिप्रायको भगवान् व्यासने महाभारतमें स्पष्ट कर दिया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'धर्मका यह सार सुनना चाहिये और सुनकर फिर धारण करना चाहिये। जो कुछ अपनेसे प्रतिकूल हो, उसका दूसरेके प्रति आचरण नहीं करना चाहिये।' अपनेको मान, सेवा, हित, प्रेम अच्छे लगते हैं; अपमान, तिरस्कार, अहित, द्वेष अच्छे नहीं लगते। अतएव हमको दूसरोंके साथ मान, सेवा, हित और प्रेमका ही आचरण करना चाहिये। यही धर्म है।

## धर्म तथा मत

इस युगमें जो अनेक महाभ्रम प्रचलित हो गये हैं, उनमेंसे यह भी एक महाभ्रम है कि लोग धर्म और मतको एक ही मान लेते हैं या मतको ही धर्मका स्थान दे देते हैं अथवा धर्मको भी मत मान लिया जाता है। वस्तुतः धर्म और मतमें बहुत बड़ा अन्तर है। धर्म मनुष्यमात्रके हितकी दृष्टिसे प्रवर्तित होता है। अतएव मनुष्यमात्रके लिये धर्म एक ही हो सकता है और वह मानव-धर्म या मानवता है। यही सनातन धर्म है। मतकी प्रवृत्ति किसी एक देश-कालमें किसी एक प्रकारके अधिकारी-वर्गके लिये होती है। अतः मत अनेक हो सकते हैं। संस्कार धर्म है, इसके प्रतिपादक ग्रन्थ धर्मशास्त्र हैं। उपासना अथवा अध्यात्मज्ञान मत हैं, इनके प्रतिपादक ग्रन्थ मत-शास्त्र हैं। इस रहस्यको न समझनेके कारण ही आजकल मत एवं धर्मके सम्बन्धमें भ्रम चल रहा है। इसी भ्रमके कारण अनेकताका स्वभाव रखनेवाले मतोंको एक करनेका और एक सार्वभौम धर्मको अनेक बनानेका प्रयत्न हो रहा है। इसी भ्रमके कारण बुद्धमत, जैनमत, ईसुमत, मोहम्मद-मत प्रभृति धर्म कहे जाते हैं। जो किसी एक देश-कालमें किसी एक ही प्रकारकी उपासनासे सम्बन्ध रखते हैं, वैसे धर्म नामक ये सब वस्तुतः मत ही हैं। धर्म तो इन सब मतावलम्बियोंका भी एक ही हो सकता है और है भी। अनेकता मतोंमें ही हो सकती है। 'सत्यं ब्रूयात्', सच बोलो—इस धर्मके लिये 'हाँ' अथवा 'ना'का भेद नहीं हो सकता।

## धर्म-प्रमाणकी परीक्षा

प्रमेयकी सिद्धि प्रमाणके अधीन है, यह निर्विवाद है। प्रमाण यदि सत्य और शुद्ध है तो प्रमेय भी सत्य एवं शुद्ध होगा। प्रमाण यदि कल्पित एवं अशुद्ध होगा तो प्रमेय भी कल्पित एवं झूठ सिद्ध होगा। यही नियम धर्मके सम्बन्धमें भी है। जिस उद्देश्यसे जो वस्तु बनती है, उस उद्देश्यके किसी भी कारणसे छिप जानेपर मनुष्य अपने दोषोंको छिपाने तथा लोकाराधन ( वञ्चना ) के लिये झूठे तत्त्वोंकी कल्पना कर बैठता है। इस प्रकार अनेक कल्पित अनृत तत्त्वोंकी समकक्षामें अथवा उनसे भी हीन कक्षामें आ जानेके कारण ऋततत्त्व ( सत्य ) को पहचानना कठिन हो जाता है। सत्य ( ऋततत्त्व ) को पहचाननेमें उस समय तो कठिनाई और भी बढ़ जाती है, जब मताग्रह, राग-द्वेष अथवा स्वार्थवश मनुष्य अनृत ( धर्माभास ) को सिद्ध करनेके लिये कृत्रिम वेद, स्मृति तथा पुराणादिके वचन गढ़ लेता है अथवा ऐसे ही किसी ग्रन्थविशेषको ईश्वरकृत घोषित कर देता है। जब इस प्रकारके ईश्वरकृत घोषित अनेक ग्रन्थोंमें अनेकता आ जाती है, तब गुरुडम फूलता-फलता है। एक ईश्वरकृत घोषित ग्रन्थ दयाको सर्वोत्तम बतलाता है तो दूसरा वैसा ही ग्रन्थ ठीक उसके विपरीत गुण क्रूरताको ईश्वरकी आज्ञा

बतलाता है। ऐसा समय बड़ा भयङ्कर होता है। ईश्वर तथा धर्मके नामपर मनुष्य मनुष्यका ही हत्यारा बन जाता है। ऐसा मनुष्य अपनी भूलसे अपना तो नाश कर ही लेता है, जगत्‌की दृष्टिमें अपने ईश्वर एवं धर्मके नामपर किये गये अपने कुकृत्योंसे उनको (ईश्वर तथा धर्मको) भी हीन सिद्ध करता है। शास्त्रकारोंने ऐसी जटिल परिस्थितिमें भी सत्यके जिज्ञासुके लिये कुछ उपाय बतलाये हैं, जिन्हें धर्म-प्रमाण-परीक्षा कहा जाता है।

'बहुत्वात् परीक्षावतारः।'

परस्परविरोधी सत्य एवं अनृतपरक वचनोंके परस्पर मिल जानेपर उनकी परीक्षा स्वर्णकी भाँति करनी चाहिये।

'कषादिप्ररूपणा।'

जैसे स्वर्णके समान दीखनेवाली धातुके विषयमें सन्देह होनेपर उसकी परीक्षा कष, ताडन, छेदन तथा तापसे की जाती है, वैसे ही धर्मके लक्षण-साधक वचनोंमें भी उनके प्रमेय तथा स्वरूपके सम्बन्धमें सन्देह होनेपर उनकी परीक्षा आवश्यक है।

'विधिप्रतिषेधौ कषः।'

प्राणिमात्रके हितमें वह विधान है या नहीं, यह परीक्षण धर्मवचनोंकी कसौटीपर परीक्षा करना है। यह परीक्षाकी प्रथम कोटि है। सबके कल्याणकी दृष्टिसे किये जानेवाला विधि-निषेध कष अर्थात् कसौटी है और इसपर उन वचनोंको खरा उतरना ही चाहिये। जैसे—'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि', किसी प्राणीको मत मारो—यह निषेधाज्ञा सर्वजनीन है। इसमें सर्वहितकी दृष्टि है, इससे यह यथार्थ है।

'तत्संभवपालना चेष्टोक्तिश्छेदः।'

स्वर्ण कसौटीपर 'खरा' उतर जाय, तब भी भीतरसे शुद्ध है या नहीं—यह देखनेके लिये उसे छेदना पड़ता है। इसी प्रकार विशुद्ध बाह्य चेष्टाओंका विधान तथा उन विधि-निषेधोंका पालन होना सम्भव है या नहीं, यह निर्णय धर्म-वचनोंकी छेदन-परीक्षा है। जिसमें प्राणिमात्रके साथ प्रेममय व्यवहारका विधान नहीं, अथवा जिन विधि-निषेध वचनोंका पालन सम्भव नहीं, वे इस परीक्षणमें असफल धर्माभास हैं।

'उभयनिबन्धनभाववादस्तापः।'

कसौटीसे ठीक तथा छेदनेपर भी सच्चा जान पड़नेवाला स्वर्ण यदि ताप देनेपर मैला हो जाय तो वह शुद्ध स्वर्ण नहीं है। इसी प्रकार धर्मवचनोंका भी ताप-परीक्षण है—उनका भाव अथवा रहस्य। प्रत्येक धर्मवचनका भाव—उसका रहस्य मनुष्यको पतनसे बचाने और संयममें लगानेका ही होना चाहिये। जो वचन ऐसे नहीं हैं, वे विशुद्ध धर्मवचन नहीं कहे जा सकते। यह लक्षण सभी देशों, समस्त कालों, सभी अवस्थाओंमें सबके लिये समान है। पूर्वमीमांसामें महर्षि जैमिनिने भी 'स्मृतिप्रामाण्याधिकरण'में प्रयोजनको ही धर्मका सच्चा लक्षण माना है। महाभारतमें भीष्मपितामहने भी श्रुति-स्मृति तथा सदाचारमें सन्देह होनेपर प्रयोजनको ही धर्मका मुख्य निर्णायक स्वीकार किया है। वे कहते हैं—

न हि निष्कारणो धर्मः सूक्ष्मोऽप्युक्तो युधिष्ठिर।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य धर्मप्रवचनं कृतम्॥

इसी प्रकार मनुने यह घोषणा ही की है—

आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

अतः शास्त्रानुकूल तर्कके सहारे धर्मके विज्ञान—प्रयोजन-तक पहुँचना ही धर्मको जानना है; क्योंकि प्रयोजन ही धर्म-का सच्चा लक्षण है। श्रुति-स्मृति एवं सदाचार तो उस प्रयोजन-के परिचायक हैं।

अज्ञान तथा प्रमादसे मनुष्यने जबसे इस प्रयोजनरूप धर्मको विस्मृत कर दिया, तभीसे उसका सहस्रमुखी पतन हुआ और हो रहा है। धर्मविधायक वचनोंका मनमाना अर्थ और इससे भी काम न चलनेपर कृत्रिम धर्मवचनोंका प्रादुर्भाव तथा इन दोनोंके सहारे अनेक मतोंका उद्भव तथा सत्य तथ्योंकी अवहेलना—ये सब बातें धर्म-विज्ञानको भूलने-पर तथा विचारहीन अन्धश्रद्धाके प्राबल्यसे ही बढ़ी हैं। अतः हिंदू-संस्कृतिकी रक्षाके लिये धर्मके उपर्युक्त लक्षणोंको समझकर उसका पालन करना चाहिये।

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मं प्रवचनं कृतम्।
यत्स्यात्प्रभवसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

(भगवान् व्यास)

'प्राणियोंकी अभिवृद्धिके लिये धर्मका प्रवचन—वर्णन किया गया है; अतः जो प्राणियोंकी अभिवृद्धिका कारण हो, निश्चय वही धर्म है।'

# प्रकाश-धाम

## [ कहानी ]

( लेखक—श्री 'चक्र' )

**न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।**
**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥**

( गीता १५ । ६ )

'मुझे प्रकाशमें जाना है—अन्धकारसे प्रकाशमें।' उसे अन्धकारसे घृणा हो गयी थी। भय लगता था। यहाँतक कि रात्रिमें वह उन्मत्त-सा हो जाता। निद्रा उसे लगती ही न थी। एक प्रकारका रोगी समझ लीजिये उसे, जो प्रत्येक प्रकारकी छायासे बेचैन हो उठता था।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय!' उसने सुना हो या न सुना हो; किंतु उसे धुन थी 'मुझे ऐसे प्रकाशमें पहुँचना है, जहाँ कभी अन्धकार प्रवेश न कर सके। भगा दो! अन्धकारको मुझसे दूर भगा दो!' वह स्वयं भागता जाता था।

उसका उन्माद—उसकी स्थितिमें उन्मत्त हुए बिना कौन रह सकता है! उसने क्या 'अहुरमज्द' (पारसीक परमात्मा) के लिये कम प्रार्थना की है? कम आहुतियाँ दी हैं? उसकी ज्वाला अन्ततः क्यों बुझ गयी? किसके पापसे उसके देशको अग्निदेवने छोड़ दिया? क्यों यह श्वेत हिम उसकी अग्निशालापर विजयी हुआ।

'पूर्वी हिंदू' ( भारतीय आर्य-जातिका पारसीक नाम ) कहते हैं कि 'ध्रुवदेश तमःप्रान्त है। वहाँ जानेवाला अन्धकारके अगम सागरमें चला जाता है। अज्ञ हैं वे!' अपने पुरोहितके उपदेशपर वह स्वयं भी हँसता था। सचमुच पूर्वी हिंदू अज्ञ न होते तो क्या इतने मनोहर प्रदेशको वर्जित बतलाते। वर्षमें पूरे छः मास जहाँ भगवान् भास्कर अखण्ड प्रकाशित होते हैं, जहाँ छः महीनेकी रात्रि ईश्वरीय प्रकाश ( ध्रुवीय विद्युत् ) आलोकसे जगमगाती है, जहाँ अग्निकुण्डोंमें अग्निदेव अखण्ड प्रकट रहते हैं; जहाँ उज्ज्वल हिम, हरित वल्लरियाँ, शस्यश्यामला भूमि, चिरस्थायी सुमन, मधुर फल-भारसे झुके हुए वृक्ष-समूह निरन्तर आनन्दका विस्तार करते हैं, वह सुन्दर देश क्या तमःप्रान्त है? उसे पूर्वी हिंदुओंके प्रति सदा उपहास एवं घृणाका भाव उकसाता रहा है।

'पश्चिमी हिंदू' ( पारसीक ) निश्चय महाज्ञानी हैं। उसके पूर्वज पारस्यदेशसे यहाँ आये थे—कितने बुद्धिमान् और शूर होंगे वे! भला, 'पूर्वी हिंदू', जो अपनी कायरतासे भारतको छोड़नेमें ही भीत होते हैं, क्या जानें कि विश्वमें ऐसे भी स्थल हैं।

'अपने पूर्वजोंके पापका दण्ड मिला है उसे, उसके पूरे देशको!' आज उसे उस वृद्ध पुरोहितकी बात स्मरण आती है, जो उसके यहाँ वर्षमें एक बार आता था। वह अपना भारी लबादा आते ही उतार देता! अपने अग्निकुण्डको अग्निशालमें रखकर सात बार अभिवादन करता और तब इस प्रकार आकर बैठ जाया करता था, जैसे यह घर उसीका हो। वह घरके प्रत्येक सदस्यका नाम लेकर उसका स्वास्थ्य पूछता। बच्चोंको गोदमें लेकर पुचकारता और देरतक अनेक प्रकारकी बातें करता। माता उसका बहुत आदर करती थीं। कुलपुरोहित भी उसका सम्मान करते थे।

'पूर्वी हिंदू ही वस्तुतः हमारे पूर्वज हैं! भारतमें हमारे पूर्वज वहाँके किन्हीं नियमोंका पालन न कर सके! फलतः वहाँके लोगोंने उन्हें पृथक् कर दिया। अनेक बार इन दोनों वर्गोंमें युद्ध हुआ। अन्तमें हमारे पूर्वजोंको भारत छोड़ना पड़ा। वे पारस्य देशमें आकर पश्चिमी हिंदू हो गये!' जब वह वृद्ध पुरोहित अपनी लंबी श्वेत दाढ़ी हिलाते हुए यह बात कहता, माता

उत्तेजित हो जातीं। ग्रामपुरोहित झगड़नेको तैयार हो जाते; किंतु वह बिना उत्तेजनाके कहता जाता 'पूर्वी हिंदू अनेक विषयोंमें इतने विद्वान् हैं कि हमलोग सोच भी नहीं सकते।' और तब ग्रामपुरोहित चिल्लाकर बोलने लगता। सभीको ये बातें पसंद न थीं। वृद्ध पुरोहित बहुत विद्वान् था; ऐसा न होता तो अवश्य लोग उसे रस्सीसे बाँधकर नगरके बीच किसी चौराहेके खंभेसे बाँध देते और पत्थरोंसे मारते-मारते मार डालते। लेकिन वह राजकुलसे एक बार सम्मान पा चुका है। जिसने राजाके हाथसे पुरस्कार पाया हो, उसे शरीर-दण्ड कैसे दिया जा सकता है।

'पूर्वी हिंदू अनेक विषयोंमें इतने विद्वान् हैं कि हमलोग सोच भी नहीं सकते।' आज उसे बार-बार उस वृद्ध पुरोहितकी बात स्मरण आती है। अवश्य पूर्वी हिंदू कोई ऐसा स्थान जानते हैं, जहाँ कभी अन्धकार नहीं होता। उन्होंने इस देशको ठीक ही अन्धकारका अगम प्रदेश कहा है। पश्चिमी हिंदू उसके पूर्वजोंने उनकी बात नहीं मानी। आज पूरे देशको अपने पूर्वजोंके उसी अपराधका दण्ड मिला है।

पृथ्वीकी केन्द्रच्युतिके समय उत्तरी ध्रुवदेशमें हिमपात हुआ। वह रात्रिका समय था—ध्रुवीय छः महीनेकी रात्रिका। हिमने ध्रुवीय प्रकाशको लुप्त कर दिया। अन्धकार—सूचीभेद्य अन्धकार और उसमें वह प्रलयङ्कर हिमपात। महीनों उस हिमपातके समय अन्धकारमें प्राण-रक्षाके लिये जो भागा हो, उसका क्लेश, उसकी आतुरता, उसका सङ्कट यदि उसे अन्धकारके भयका उन्मादी बना दे तो क्या आश्चर्य! वह वहाँसे बच निकला था, यही क्या कम था?

× × × ×

[ २ ]

'ये बड़े-बड़े वृक्ष!' छायासे उसे घृणा थी। वह शीत प्रदेशका निवासी उष्णतासे व्याकुल हो गया था; किंतु छाया उसे धूपसे अधिक असह्य थी। घना जंगल, सघन छाया—जैसे ये साक्षात् यमदूत हों, जो उसे निगलने दौड़े आ रहे हों। बड़ा कष्ट हुआ उसे। कई मासमें वनभूमिसे उसका पीछा छूटा।

'बहुत थोड़ी देर रहते हैं इस देशमें सूर्य!' ध्रुवीय दिनोंकी अपेक्षा नीचेके बारह घण्टेके दिन उसे कितने तुच्छ जान पड़े, यह कल्पना ही की जा सकती है। 'रात्रि भी छोटी और उसमें वह शीतल चन्द्रमा—वह तो कभी निकलता है और कभी निकलता ही नहीं!' रात्रि इतनी शीघ्र आ जाय, यह उसे पसंद नहीं था।

'कहीं आगे और छोटे दिन तो न होंगे!' उसे भय लगा कि क्रमशः नीचे दिन घटते गये तो पल-पल-पर दिन-रातका क्रम बड़ा कष्टकर होगा; परंतु उपाय कुछ नहीं था। 'बुद्धिमान् पूर्वी हिंदू अवश्य किसी प्रकाशमय देशको जानते होंगे।' उसे यह एक ही विश्वास बढ़ाये लिये जा रहा था।

'तुम कौन हो?' महीनोंके पश्चात् उसे मनुष्यके दर्शन मिले थे। ठिगने, पीले मनुष्य। उनकी नासिका जैसे किसीने उत्पन्न होते ही जोरसे दबा दी हो। कई मनुष्योंने उसे घेर लिया था। वे जो भाषा बोलते थे, उसका एकाध शब्द वह कठिनतासे समझ पाता था।

'पश्चिमी हिंदू—आस्थुस कल्यम।' उसने अपना नाम बतलाया। वे मनुष्य इस प्रकार उसका मुख देख रहे थे, जैसे उन्होंने कुछ समझा ही नहीं। मस्तकपर लंबी-लंबी तीन-तीन चोटियाँ, हाथोंमें चमकते भाले और शरीरपर चमड़े तथा चिड़ियोंके पंखोंसे बने विचित्र वस्त्र पहिने वे अद्भुत लगते थे। उन्होंने परस्पर कुछ कहा और फिर घेर लिया उसे। उसने समझ लिया कि वह बन्दी बनाया गया है। मनुष्योंको देखकर पहले वह प्रसन्न हुआ था। पता नहीं कितने दिनोंपर उसने मानवके दर्शन पाये थे। लेकिन इन मनुष्योंके

व्यवहारने उसकी प्रसन्नताको भयमें परिवर्तित कर दिया। 'कौन हो तुम ?' राजा काँगका दरवार अद्भुत था। ऐसे विचित्र भवन, ऐसे पत्थर तथा लकड़ीके काम उसने नगरमें देखे थे कि मार्गमें ही चकित हो गया था। राजाका स्वर्णसिंहासन, रत्नमुकुट, चीनांशुक, दरवारकी वह शोभा, सत्ता, अनुशासन—उसे लगा कि वह फरिश्तोंके देशमें आ गया है। राजाके प्रश्नके उत्तरमें उसके मुखसे एक शब्द न निकला।

'अतिथि, डरो मत! हम तुम्हारा परिचय जानना चाहते हैं।' पता नहीं क्या हुआ। राजाने उसे ले आनेवालोंसे कुछ पूछा, फिर समीप बैठे दूसरे व्यक्तिसे कुछ बातें कीं। थोड़ी देर सब शान्त रहे। एक वृद्ध पुरुष आया कुछ देरमें! उसे राजाने भी उठकर सम्मानित किया। वृद्धको राजाके समीप ही बैठाया गया। उसे आश्चर्य हुआ और आनन्द भी, जब उसने वृद्धको अपनी भाषामें बोलते सुना।

'मैं पूर्वी हिंदुओंके देशमें पहुँचना चाहता हूँ।' बहुत संक्षिप्त शब्दोंमें अपना परिचय और उद्देश्य बताया उसने। उसे लानेवालोंने एक वस्त्र दिया था, जिसे उसने कमरके चारों ओर लपेट लिया था। उसके वस्त्र तो कबके जंगलोंमें चिथड़े बनकर उलझ चुके थे। बड़े-बड़े बाल, रूखा शरीर, कष्ट-यात्रा और अनाहारसे स्नायु उभड़ आये थे। शरीर कंकाल हो रहा था। लोग इतने लंबे श्वेत रंगके दुर्बल पुरुषको बड़े आश्चर्यसे देख रहे थे।

जैसे कोई जादू हो गया हो, वे वृद्ध पुरुष सहसा उठ खड़े हुए। उन्होंने कुछ कहा; पर क्या कहा—यह वह समझ नहीं सका। राजाने शीघ्रतासे मुकुट उतार दिया। सबके सब उठकर खड़े हो गये। सबने एक साथ कटितकका शरीर नीचे झुकाया। उनके मस्तकके साथ उनकी लंबी चोटियाँ भूमिका स्पर्श करने लगीं। एक, दो, तीन—वे लोग यह अद्भुत व्यायाम करते ही जा रहे थे। उसने बड़ी कठिनाईसे अपना हास्य रोका।

'आपलोग मुझे आज्ञा दें!' उसे राजाके सिंहासनके पास सम्मानपूर्वक बैठाया गया। राजाके सेवकोंने उसे वस्त्र, अलंकार, सुगन्धित तैलसे सजाना प्रारम्भ किया। उसे बड़ा भय लगा। बचपनमें उसने सुना है कि 'दक्षिणकी कुछ पर्वतीय जातियाँ मनुष्यका पहले सत्कार करती हैं और फिर उसे किसी मूर्तिके सम्मुख मार डालती हैं। क्या उसे भी इसी प्रकार मारा जायगा!'

'आप हमारे लिये देवताओंके समान पूज्य हैं' उस वृद्धने बड़ी नम्रतासे कहा। 'आप उस देशके यात्री हैं, जहाँ मनुष्य देवताओंसे भी महान् हैं। उस देशके सम्राट्के चरणोंमें देवेन्द्र भी अपने उपहार निवेदित करके कृतार्थ होते हैं। पूज्य अतिथि! हमारे महाराज तुम्हारे हाथ वहाँके मानववन्द्य सम्राट्के लिये अपना छोटा-सा उपहार भेजेंगे और मैं अपने गुरुदेवके श्रीचरणोंमें निवेदित करनेके लिये एक उत्तरीय दूँगा! हमारे महाराज तुम्हारी यथाशक्ति सहायता करेंगे! आशा है तुम हमपर कृपा करोगे। हमारे उपहार पहुँचा दोगे।'

'कैसा होगा वह देश ? कैसे होंगे वे सम्राट् और गुरु ?' वह चकित रह गया। यहाँ उसने जिस वैभवको देखा है, वही उसे स्वर्गीय लगता था। राजाकी इस राजसभामें इतने सिक्थ-प्रदीप ( मोमबत्तियाँ ) थीं कि वहाँ अन्धकारका प्रवेश शक्य नहीं था। इस प्रकाशने उसे सबसे अधिक प्रभावित किया। जहाँ जानेका विचार उसे इन लोगोंमें इतना सम्मानित कर रहा है, कैसा होगा वह देश ?

× × ×

[ ३ ]

'भारत—अजनाभवर्ष, यही क्या पूर्वी हिंदुओंका

देश है ?' उसने जिन पूर्वी हिंदुओंकी बातें सुनी हैं, उसके हृदयमें जो तिरस्कारके बीज बचपनमें डाले जाते थे, कहीं तो नहीं है उसका आधार। सरिताओंके तीर भव्य मन्दिरोंसे अत्यधिक मनोहारी हो गये हैं। घर-घर, व्यक्ति-व्यक्ति अपनी अग्नि रखता है। प्रत्येक ग्राममें उसका ऐसा सत्कार होता है, जैसे किसी देवताकी पूजा हो रही हो।

'यह भी क्या मनुष्य ही हैं!' भव्य पाटलकान्ति गोधूम वर्णके सम्मुख उसका श्वेतवर्ण फीका लगता है। उन्नत ललाट, अनुभावपूर्ण भंगिमा, विनयपूर्ण बर्ताव एवं विद्याका तो व्यक्ति-व्यक्तिमें समुद्र उमड़ रहा है। 'इतना वैभव, इतना ऐश्वर्य, इतनी शालीनता भी पृथ्वीपर ही है?' कोई उससे कुछ चाहता नहीं। सब सेवा करना चाहते हैं।

'इनकी सम्पत्ति कोई चोरी नहीं करता?' उसे यह देश अद्भुत लगा। लोग चाहे जहाँ बहुमूल्य वस्तुएँ डाल देते थे। खेतोंमें पशुओं और उपवनोंमें पक्षियोंको कोई भगाता ही नहीं। 'आइये, कुछ तो स्वीकार कीजिये!' मनुष्य, पशु-पक्षी, सभी प्राणियोंके लिये इस प्रकार सभी पदार्थोंमें खुला निमन्त्रण देनेवाले ये कैसे मानव हैं।

'आप क्या इसे स्वीकार करनेकी कृपा करेंगे?' जहाँ किसी वस्तुके प्रति तनिक भी उत्सुकता दिखायी कि उस वस्तुका स्वामी वाणी एवं भावमें इतना आग्रह भर लेगा कि अस्वीकार करना शक्य नहीं रह जायगा। यात्रीको शीघ्र ही अनुभव हो गया कि इस देशके लोगोंने सम्भवतः लेना सीखा ही नहीं है। एक स्थानका उपहार दूसरेको दे दें, यह बहुत सरल बात नहीं। कोई वस्तु किसीको देनी हो तो यहाँके लोग वस्तुके उपयोग, गुण, प्रशंसा, आवश्यकताका बड़ा विस्तृत वर्णन करेंगे; किंतु उन्हें कुछ देने लगिये तो वस्तुमें उन्हें दोष-ही-दोष दीखेंगे। उनके पास उसकी आवश्यकता ढूँढ़े न मिलेगी। कहाँतक यात्री उपहारोंको ढोये।

'महाराज?' उसने समझा था कि इस स्वर्गीय देशका महाराज सरलतासे प्राप्त न हो सकता होगा। सच तो यह है कि प्रारम्भमें उसे प्रत्येक गृह राजभवन लगा और प्रत्येक व्यक्ति महाराज जान पड़ा। 'यहाँ कोई राजा न होगा। ऐसे महान् लोगोंका कोई राजा हो कैसे सकता है। राजाकी यहाँ आवश्यकता भी क्या है।' लेकिन उसने राजाकी जिज्ञासा की थी और वह बड़े सम्मानसे प्रतिष्ठानपुर पहुँचाया जा रहा था। राजधानीका नाम उसने स्मरण कर लिया, यद्यपि उसे उच्चारण करनेमें वह पूर्णतः सफल न हो सका।

'सम्मान्य अतिथि! अपने देशकी ओरसे मैं आपका स्वागत करता हूँ।' वह जैसे स्वप्नमें सुन रहा हो। भवन-द्वारतक आकर जिस तेजोमय पुरुषने उसे पृथ्वीमें लेटकर प्रणाम किया था, वे ही महाराज हैं। मनुष्य इतना तेजस्वी होता है? वह तो चौंक पड़ा था। उसे लगा, यह देवदूतोंका कोई महाधिपति है। अर्घ्यके पश्चात् पैर धोये महाराजने उसके। संकोच और अस्वीकार उन दिव्य पुरुषने विनोद बना लिया। चन्दन, माल्य, पुष्पसे पूजा की गयी उसकी और वह भोजन—कैसे भूल सकेगा वह भोजनको। 'आप आज्ञा करें। आपकी सेवासे हम पवित्र होंगे।' महाराजने भोजनोपरान्त उससे प्रार्थना की।

'चीनके राजाने यह उपहार भेजा है!' यात्रीने देखा, चीनका वह महामूल्यवान् माणिक्य यहाँ पादपीठमें लगे रत्नोंसे भी तुच्छ है। उसे जिस आसनपर बैठाया गया था, उसका प्रत्येक रत्न इस उपहारका परिहास करनेके लिये पर्याप्त था। 'महाराज हँसकर उसे एक ओर फेंक देंगे।' राजसभामें आनेसे पूर्व ही वह समझ चुका था। भारतीय गृहोंमें रत्नप्रदीपोंके

अखण्ड आलोकको देशमें प्रविष्ट होते ही उसने देखा और तभी उपहारकी तुच्छता उसे प्रतीत हो गयी। जो भी हो, उसे तो कर्तव्य पूरा करना था।

'चीना नृपतिका सौहार्द!' आदरसे महाराजने रत्नको उठाकर नेत्रोंसे स्पर्श कराया! 'वे प्रसन्न तो हैं?' इतना शील—यात्रीके नेत्र भर आये।

'आपकी मित्रता पाकर तो देवता भी कृतार्थ हो जायँगे।' यात्री जैसे अपने आपसे कह रहा हो।

'आपने जिस उद्देश्यसे इतनी दुर्गम यात्रा की, उसके श्रवणसे मैं कृतार्थ होना चाहता हूँ!' महाराजके प्रश्नमें ही उद्देश्य पूर्ण करनेका भाव था।

'मुझे प्रकाश चाहिये।' यात्रीने अपना परिचय दिया। यात्राविवरण बतलाया। 'यह सूर्य शीघ्र छिप जाता है। चन्द्रमाका तो कोई ठिकाना नहीं। मैंने देखा है कि अग्निदेवपर हिम किस प्रकार विजयी हो जाता है। आपके ये रत्न कुछ ठीक हैं; परंतु इनके समीप ही प्रकाश रहता है। दूर तो अन्धकार दिखलायी ही पड़ता है। आप देवताओंसे भी महान् हैं। आपकी शक्ति अपार है। आप मुझे ऐसा स्थान बतायें, जहाँ कभी अन्धकार प्रवेश न कर सके। मुझपर दया करें।' यात्रीने हाथ जोड़ लिये। उसके नेत्र याचना कर रहे थे। ये ऐश्वर्यस्वरूप महाराज उसकी इच्छा पूर्ण कर देंगे—यह उसे विश्वास था।

'आज आप विश्राम करें।' दो क्षण मौन रहकर महाराजने कहा। 'कल गुरुदेवके आश्रममें आपके साथ चलूँगा। आपकी इच्छा वही पूर्ण कर सकते हैं।'

'मुझे उनके चरणोंमें उनके एक शिष्यका प्रणाम निवेदन करना है।' यात्रीने नाम पूछा और तब उसे चीनके उस वृद्धका स्मरण आया।

× × × ×

[ ४ ]

'महाराज! वहाँ अन्धकार होगा।' किसी प्रकार वृक्षोंकी छायामें वह अपनेको सँभाल रहा था। उसकी इच्छा होती थी, भाग जाय दूर। भला वह उस फूसकी कुटियामें कैसे जाय। वहाँ तो किसी सिक्थ-दीप (मोमबत्ती) के भी लक्षण नहीं! रत्नप्रदीप तो होगा ही क्या। अग्निशाला भी बाहर ही है।

'वहाँ प्रकाशके परम पुञ्ज हैं, आप डरें नहीं।' महाराजने उसे आश्वासन दिया। सचमुच पहली बार उसने ऐसा पुरुष देखा, जिसके सम्पूर्ण शरीरसे विचित्र प्रकाश प्रकट हो रहा था। यद्यपि वहाँ पर्याप्त छाया थी, फिर भी उस पुरुषके पास अन्धकारका भय मनमें आया ही नहीं।

'अग्निको जल या हिम शीतल कर देता है!' उन जटाधारी तपस्वीने महाराजके प्रणामके पश्चात् स्वतः कहना प्रारम्भ किया—'इसीलिये कि अग्नि पृथ्वीपर स्थूल आधारसे व्यक्त होता है!'

'चन्द्रमा?' यात्रीने पूछा।

'चन्द्रमाके पास प्रकाश कहाँ? वह तो सूर्यसे प्रकाश लेता है।' यह बात तो यात्रीने भी सुनी है। 'सूर्यका प्रकाश भी एक सीमातक ही रहता है। इसीसे प्रलयकी वृष्टि उसे भी डुबा देगी।'

'तब क्या सदाके लिये अन्धकार हो जायगा?' यात्रीको भय लगा।

'तुम अपने नेत्र बंद करो!' उन्होंने आदेश दिया।

'केवल अन्धकार है।' झटसे यात्रीने दृष्टि खोल दी। 'मैं अभी सोना नहीं चाहता।'

'इसी प्रकार सृष्टिकर्ता जब दृष्टि बंद कर लेता है, सृष्टिमें अन्धकार हो जाता है?'

'सृष्टिकर्ताके पास प्रकाश किसका है?' यात्रीने पूछा।

'परम-पुरुषका।' वे बतलाते गये। 'परम पुरुष ही-

स्वतः प्रकाश हैं। उनका धाम नित्य प्रकाशस्वरूप है। जब भी हम नेत्र बंद कर लेते हैं, अन्धकार हो जाता है। उनकी ओरसे दृष्टि बंद करना ही अन्धकार है। समष्टिकर्ताकी दृष्टि बंद होनेपर समष्टिमें और व्यक्तिकी दृष्टि बंद होनेपर व्यष्टिमें अन्धकार होता है।'

'मैं वहाँ जा सकूँगा ?' यात्रीने उत्कण्ठासे पूछा।

'निश्चय जा सकोगे।'

'कोई फिर निकाल तो नहीं देगा ?'

'वहाँ पहुँचनेपर फिर कोई निकाल नहीं सकता! कोई वहाँ जाकर फिर नहीं लौटता।' वाणी गम्भीर ही बनी रही।

'भला, प्रकाशधाममें जाकर कोई क्यों लौटेगा इस अँधेरेमें।' यात्रीने बड़ी नम्रतासे प्रार्थना की—'आप मुझे वहाँ भेज दें। वहीं—जहाँ अग्नि, चन्द्र, सूर्यका प्रकाश नहीं। जहाँ इनके प्रकाशके लुप्त होनेका भय नहीं। मैं उत्तर ध्रुवदेशसे वहीं जानेके लिये चला हूँ।'

**'असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय! मृत्योर्मामृतं गमय!'**

दूर कोई ब्रह्मचारी श्रुतिका सस्वर पाठ कर रहा था। अतिथिके पधारनेका उसे पता होता तो श्रुतिका अनध्याय हो गया होता। यात्रीने सुना। वह महीनोंके श्रमसे संस्कृत बोलने लगा है। उसने सोचा 'वह ठीक स्थानपर आया है। अन्धकारसे प्रकाशमें ले जानेकी प्रार्थना जहाँ होती है, वहाँ उसका पथ होना ही चाहिये।'

'असत्से सत्में जाना ही अन्धकारसे प्रकाशमें जाना है। अन्धकार-अभाव-मृत्यु—ये एक दूसरेके बड़े पर्याय हैं। इनसे अमृतत्वमें जाना है। उस प्रकाशस्वरूप सत्में, जहाँ जाकर लौटना नहीं पड़ता। जहाँ शाश्वत स्थिति—अमरत्व है।' वे महात्मा कहते जा रहे थे। 'असत्, विनाशशील—यदि तुम नेत्र खोलकर न देखो तो इसकी सत्ता ही तुम्हारे लिये न हो। सत्ता तो कम-से-कम तुम्हारे लिये तुम्हारे भीतरसे इसमें आती है। उसी सत्तामें प्रवेश करो।'

'भीतर—सबके भीतर पृथक्-पृथक् सत्ता ?' यात्रीको भय हुआ कि ऐसी सत्ता क्या शरीरके साथ ही नष्ट न हो जायगी।

'शरीर भी तो मनसे देखनेपर ही है,' उन्होंने बतलाया। 'सत्ता तो व्यापक है। प्रकाशधाम तो सर्वत्र है। तुम उसकी ओर देखो! बाहर देखना बंद करो।'

'विन्दु, उज्ज्वल प्रकाशमय विन्दु जो बढ़ रहा है।' यात्रीने नेत्र बंद किये। महापुरुषने झुककर दाहिने हाथकी कनिष्ठिकासे उसके भ्रूमध्यका स्पर्श कर दिया। 'सूर्य है वह विन्दु, सूर्यके ऊपर चन्द्र और उसके ऊपर भी अग्निके मण्डल। अग्नि-मण्डलके मध्य उस प्रकाशसे परे प्रकाश—अनन्त अपार प्रकाश। सूर्य, चन्द्र, अग्नि सम्भवतः स्फुलिंगांश होंगे उस महाप्रकाशके।' यात्रीका शरीर निश्चल हो गया।

साइबेरियाकी एस्किमो जाति उस यात्रीके वंशज हैं या हिमपातसे बचे हुए मानवोंकी परम्परा, यह मुझे ज्ञात नहीं। प्रतिष्ठानपुरके महाराजको भी पता न लगा कि यात्री आश्रमसे कहाँ गया। उस समय भारतमें विदेशीजनोंके लिये इतना सशङ्क रहनेकी आवश्यकता नहीं थी।

## तुम्हारे हाथ लाज है

**तन मन धन अर्पन कियो सब तुम पै ब्रजराज।**
**मन भावै सोई करौ हाथ तुम्हारे लाज॥**

# सत्संग-वाटिकाके बिखरे सुमन

( संकलनकर्ता—एक सत्संगी )

( १ ) भगवान्‌के अस्तित्वका वास्तवमें हमें विश्वास हो जाय—हमें यह विश्वास हो जाय कि भगवान् यहाँ हैं, हमें देख रहे हैं—तो सच्ची बात है कि हम निष्पाप हो जायँ, निश्चिन्त हो जायँ और निर्भय हो जायँ ।

( २ ) अपने किये तो कुछ होता नहीं, सब कर्म विपरीत हैं; पर हमारे नाथ हैं करुणावरुणालय, परम दयालु । वे अपनी दयालुतावश स्वयमेव द्रवित हो जायँगे और हमारा कल्याण होगा—ऐसा विश्वास बड़े महत्त्व-का है । इसमें सबसे बड़ी बात है भगवान्‌की कृपापर विश्वास, जो सबसे मुख्य है ।

( ३ ) सच्चे सकाम भक्त वे हैं, जो परम विश्वास-के साथ एक बार भगवान्‌के सामने अपनी बात रखकर चुप-चाप भगवान्‌का निर्भर-भजन करते रहते हैं । वे कभी किसी दूसरेकी ओर ताकते नहीं । जबतक दूसरेकी ओर ताकना बना है, तबतक निर्भरता नहीं होती । एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर हो जाय—उनकी कृपापर, उनके बलपर विश्वास करके निश्चिन्त हो जाय । तभी कार्य सिद्ध होता है । हमारे जितने संदेह हैं— भय-निराशा, शोक आदिके जितने भाव मनमें आते हैं—ये सब विश्वासकी कमीके ही परिणाम हैं । विश्वासमें कमी न हो तो ये चीजें मनमें कभी आ ही नहीं सकतीं । कहीं आती हैं तो क्षणमात्रमें ही नष्ट हो जाती हैं ।

( ४ ) हमारा भला किस बातमें है तथा हम जो कर रहे हैं, उसका निश्चित फल क्या होना चाहिये—हम स्वयं इनका निर्णय करते हैं और फिर भगवान्‌को बताते हैं । उनसे कहते हैं—'हमारा भला इस बातमें है और इसको आप यों कर दीजिये ।' बस, भूल यहीं होती है । भगवान्‌पर विश्वास करनेवाला छोटे बच्चेकी भाँति भगवान्‌पर ही निर्भर होता है । वह स्वयं कोई प्रयत्न नहीं करता; वास्तवमें वह कोई दूसरा प्रयत्न जानता ही नहीं । अभाव प्रतीत हुआ, उसने उसे भगवान्‌के सामने रख दिया । अब उसकी पूर्ति कैसे, किस वस्तुसे, कब होगी, होगी या नहीं, होनी चाहिये या नहीं—यह वह नहीं सोचता । जैसे छोटा बच्चा जाड़ा लगनेपर रोता है, पर माके सामने रोनेके सिवा और कुछ नहीं जानता, वैसे ही सकामी भक्त भी भगवान्‌-पर निर्भर करता है । भगवान् सर्वज्ञ हैं । वे उसकी आवश्यकताको समझकर ऐसी व्यवस्था कर देते हैं, जिसमें उसका यथार्थ परम हित होता है ।

( ५ ) स्नेहसे भरी हुई माता अपने बच्चेका लालन-पालन स्वयं अपने हाथों करती है, उसे किसी दूसरेपर विश्वास ही नहीं होता कि वह ठीक कर देगा । वास्तवमें उसे स्वयं सार-सँभाल किये बिना संतोष ही नहीं होता । इसी प्रकार भगवान् सच्चे भक्तके योगक्षेमको स्वयं वहन करते हैं, दूसरोंसे नहीं करवाते ।

( ६ ) भगवान्‌का अनन्य चिन्तन, भगवान्‌की एकान्त उपासना और नित्य भगवान्‌में चित्तका लगा रहना—ये तीनों बातें होती हैं भगवान्‌की कृपामें विश्वास होनेपर ही ।

( ७ ) विश्वास हो जानेपर ही काम होता है । हमारे हाथमें हीरा रक्खा है; पर हमारी बुद्धिमें समाया है कि यह काँच है । इस प्रकार हमारी श्रद्धा न होनेसे हाथका हीरा काँच बन जाता है, उससे हमें कोई लाभ नहीं हो सकता । परंतु जहाँ श्रद्धा है, वहाँ काँच भी हीरा दीखता है और दृढ़ श्रद्धा होनेसे काँच हीरा बन भी जाता है । प्रह्लादमें दृढ़ विश्वास ही तो था । उसे दृढ़ निश्चय था कि आगमें जो भगवान् हैं, वे ही मुझमें हैं; उसे काटनेके लिये जो साँप भेजे गये हैं, उनमें और उसके अन्तरमें रहनेवाले भगवान् दूसरे

थोड़े ही हैं। बस, इसी विश्वासके प्रतापसे उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ। और इसी विश्वासके कारण खम्भेमेंसे भगवान् प्रकट हुए।

( ८ ) आस्तिकता भगवान्‌का हर जगह प्रत्यक्ष कराती है। प्रह्लादकी आस्तिकता ही थी, जो उसे विष, साँप, अग्नि, जल, पहाड़—सभीमें भगवान्‌के दर्शन कराती थी।

( ९ ) प्रेमके मार्गमें क्रियाका विरोध नहीं है, अपितु उसमें क्रिया और भी सुन्दर ढंगसे होती है। हमारी क्रियासे प्रेमास्पदको सुख पहुँचता है, इस भावसे तो क्रियामें और भी सुन्दरता, उत्साह और उमङ्ग आ जाती है।

( १० ) भगवान्‌को छोड़कर दूसरेकी आशा करना, विश्वास करना, भरोसा करना पाप है, व्यभिचार है।

( ११ ) केवल एक भगवान् ही ऐसे हैं, जो किसी व्यक्तिका पिछला इतिहास नहीं देखते, उसके वर्तमान आचरण नहीं देखते; वे देखते हैं केवल उसके विश्वासको और इस विश्वासको देखकर ही वे उस व्यक्तिके अभावकी अनुभूतिका ही अभाव कर देते हैं। मनुष्यको दुःख होता है अभावकी अनुभूतिसे। अभावकी अनुभूति मिट जानेपर उसका दुःख मिट जाता है।

( १२ ) अपने बलको मनुष्य जहाँ भगवान्‌के बलसे अलग मानता है, वहीं वह बल आसुरी हो जाता है।

( १३ ) भगवान्‌के जो निर्भर भक्त हैं, वे केवल भगवान्‌की ओर ताकते हैं; उनमें न अपने बलका अभिमान है, न किसी औरका भरोसा। वे तो अपनी 'प्रीति, प्रतीति, सगाई'को सब जगहसे हटाकर भगवान्‌में लगा देते हैं।

( १४ ) प्रेम कभी टूटता या घटता नहीं; वह तो प्रतिक्षण एकतार बढ़ता ही रहता है। प्रेम गुणरहित, अनुभवरूप और कामनारहित है। जो प्रेम गुणोंको देखकर होता है, वह तो गुणोंके न दीखनेपर लुप्त हो जाता है।

( १५ ) प्रेममें प्रतिकूलता नहीं रहती। प्रेम प्रतिकूलताको खा जाता है। प्रेमास्पद यदि हमारे प्रतिकूल कार्य करके सुखी होता है तो उसीमें प्रेमीको अनुकूलता दीखती है।

( १६ ) प्रेम खालीपन चाहता है। जब प्रेमी अपने हृदयको खाली कर देता है तब प्रेम वहाँ बैठता है। खाली करनेका अर्थ है—त्याग। अर्थात् जितना-जितना त्याग बढ़ता है, उतना-उतना ही प्रेम होता है। त्यागके आधारपर प्रेम रहता है।

( १७ ) जब भगवान्‌में प्रेम बढ़ता है और विषयोंकी ओरसे घटता है, तब समझ लो कि भगवत्कृपा हमपर बरस रही है। इसके विपरीत यदि विषयोंमें प्रेम बढ़ रहा है और भगवान्‌की ओरसे घट रहा है, तब समझ लो कि भगवान्‌की कृपासे हम वञ्चित हो रहे हैं और जहाँ विषयोंमें ही प्रेम हो गया है और भगवान्‌की ओर मन ही नहीं जाता, तो समझ लो कि हम भगवत्कृपासे वञ्चित हो गये हैं।

( १८ ) संसारकी स्थितिको अनुकूल बनाकर हम सुखी हो जायँ, यह असंभव है। भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णने स्वयं अपनी लीलाओंसे इस बातको दिखा दिया है कि जगत्‌का यही स्वरूप है। जगत्‌में तो प्रतिकूलतामें ही अनुकूलताका अनुभव करना होगा, तभी सुख होगा। और यह प्रतिकूलतामें अनुकूलताकी प्राप्ति कब होगी?—जब हमारा भगवान्‌पर विश्वास होगा। जब हम प्रत्येक स्थितिमें मङ्गलमय भगवान्‌के मङ्गलविधानका प्रत्यक्ष करेंगे। जब जगत्‌में हमें भगवान् और भगवान्‌की लीला ही दिखायी देगी।

( १९ ) भगवान् पराये नहीं हैं और न वे बहुत दूरपर स्थित हैं कि उन्हें देखना, पाना हमारे लिये दुर्लभ हो। जैसे अपने आत्माको हम चाहे जहाँ प्राप्त कर सकते

हैं—प्राप्त क्या कर सकते हैं, वह तो नित्य ही हमारे अंदर विराजित है, हमारा स्वरूप ही है—वैसे ही भगवान्‌को अपना मान लेनेपर भगवान् भी सर्वत्र-सर्वदा हमारे निकट हैं। जैसे गोदके शिशुके लिये मा अत्यन्त निकट है, वैसे ही निर्भर भक्तके लिये भगवान् अत्यन्त निकट हैं।

( २० ) प्रार्थना दो कामोंको सिद्ध करती है—( १ ) भगवान् हमारे अत्यन्त निकट आ जाते हैं और ( २ ) भगवान् नित्य हमारे पास रहने लगते हैं। इस समय हम भगवान्‌को नित्य अपने निकट नहीं देखते—इसका सीधा-सादा प्रमाण यह है कि हमें चिन्ता होती है, विषाद होता है, भय होता है, अशान्ति होती है। प्रार्थना हमें भगवान्‌की सन्निधिमें ले जाती है और नित्य वहीं रखती है।

( २१ ) प्रार्थनाका अर्थ है—'विश्वासपूर्वक भगवान्‌के साथ आत्मीयता स्थापित कर लेना। प्रार्थनाके लिये वाणीकी आवश्यकता नहीं है, चाहे श्लोक न आयें, भाषा ठीक न हो। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये विशेष भाषा, विशेष शब्दोंकी आवश्यकता नहीं; उसके लिये तो एक ही वस्तुकी आवश्यकता है—वह है विश्वाससे भरा प्रेमस्वरूप हृदय। भारतीय भक्ति-शास्त्रोंमें इसीलिये सम्बन्ध-स्थापनकी बातपर जोर दिया गया है। भगवान्‌के साथ प्रगाढ़ आत्मीयता हो जानेपर भगवान् अपने हो जाते हैं। वास्तविक प्रार्थना वह है, जिसमें हम जगत्‌के नहीं रहते, भगवान्‌के हो जाते हैं। पतिव्रता एकमात्र पतिकी ही हो जाती है। पतिके बिना उसके लिये जगत्‌में और कोई वस्तु न आवश्यक है और न सुखकर।

( २२ ) प्रार्थनामें निष्काम और सकामका जो झगड़ा है, वह आत्मीयता न होनेके कारण है। जहाँ आत्मीयताका प्रगाढ़ सम्बन्ध है, वहाँ सकाम और निष्काम दोनों ही भाव नहीं रहते। वहाँ तो रहती है प्रगाढ़ आत्मीयता, नितान्त अपनापना। यदि एक सूईकी भी आवश्यकता है तो प्रगाढ़ प्रेम और आत्मीयताके लिये। पतिव्रता कपड़ा सीकर पहनती है तो पतिके लिये और सीनेके लिये सूई माँगती है तो पतिसे ही। भगवान्‌से अमुक वस्तु न माँगो—आदि कहना तो भगवान्‌के साथ प्रगाढ़ आत्मीयताका न होना सूचित करता है। निन्दा उस सकाम भावकी है, जो इन्द्रिय-सुख-भोगके लिये होता है। जहाँ इन्द्रिय-सुख-भोगकी भावना ही नहीं है, सब कुछ भगवत्-प्रीतिके लिये है, वहाँ सकाम-निष्काम कुछ नहीं रहता। भगवान्‌के साथ हमारा ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाय, इसके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता होती है।

( २३ ) बिना विश्वासके प्रार्थना नहीं होती और विश्वास होनेपर प्रार्थना न सुनी जाय, यह हो नहीं सकता। प्रार्थनाके न सुने जानेमें कारण है—विश्वासकी कमी। भगवान् भाषा नहीं देखते; भाषा चाहे कुछ भी हो, विश्वासके साथ भगवान्‌को पुकारनेपर उत्तर न मिले—यह संभव नहीं। उत्तर मिलता अवश्य है; हाँ, वह हमारे मनको अनुकूल लगे या प्रतिकूल—यह बात दूसरी है। एक नरकके कीड़ेका भी भगवान्‌के दरबारमें वही आदर है, जो एक बड़े-से-बड़े देवताका। उस दरबारमें इस बातकी आवश्यकता नहीं है कि कौन किस वर्णका, किस जातिका, किस देशका और किस आश्रमका है। वहाँ तो केवल विश्वास और प्रेम चाहिये।

( २४ ) सकाम भक्ति भी फल देकर मरती नहीं। भगवान् कहते हैं 'मद्भक्ता यान्ति मामपि'—चारों प्रकारके भक्त मुझे प्राप्त हो जाते हैं। भगवद्भक्ति ऐसी चीज है कि उसके बदले हम कुछ माँग भी लेते हैं तो भी वह बनी रहती है। भगवान् भक्तकी माँगी हुई वस्तु देकर भी उसके विश्वासको नष्ट नहीं करते।

( २५ ) सकामभावसे विश्वासपूर्वक यदि भगवान्‌को पुकारा जाय तो दो बातोंमेंसे एक अवश्य हो जाती है—( १ ) या तो वह कामना पूर्ण हो जाती है, ( २ ) या उस काम्य वस्तुके अभावके कारण उत्पन्न खेद मिट जाता है। अधिकतर कामनाकी पूर्ति ही होती है।

( २६ ) जगत् दुखी क्यों है ? अपने मँगतेपनके कारण, कामनाके कारण। भगवान्‌को जाचनेपर यह

मँगतापन, यह कामना जल जाती है। इसलिये कुछ माँगना भी हो तो उन्हींसे माँगे—

जग जाचिय कोउ न जाचिय जौं इक जाचिय जानकि जानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाय, जो जारत जोर जहानहि रे॥

( २७ ) किसी भी इच्छासे भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़ लेना अच्छा है।

( २८ ) समय बहुत अमूल्य धन है हमारे पास, और उस समयका दुरुपयोग करना या सदुपयोग करना अथवा समयसे हानि उठाना हमारे हाथकी बात है। समयको यदि हम सत्कर्ममें लगाते हैं तो उससे लाभ उठा रहे हैं और यदि व्यर्थके कामोंमें लगाते हैं तो उसे खो रहे हैं और यदि उसे बुरे कामोंमें लगाते हैं तो हानि कर रहे हैं। मनुष्यके जीवनका एक-एक क्षण बड़े कामका है। भगवान्पर विश्वास हो और उस विश्वासको लेकर मनुष्यका मन उनपर निर्भर हो जाय तथा सत्कर्ममें लग जाय तो समयका बड़ा सदुपयोग है। जितना समय भगवान्में लग गया, उतना सार्थक है सफल है; शेष सब तो व्यर्थ ही जा रहा है।

( २९ ) व्यर्थताके दो स्वरूप हैं—( १ ) जिसका कोई सदुपयोग न हुआ और ( २ ) जिसमें नये पाप पैदा हुए। प्रथमसे दूसरा स्वरूप अधिक भयावह है।

( ३० ) समयको परदोषकथन, दूसरेको हानि पहुँचाना, तन-मन-वचनसे पापकर्मोंका आचरण, निन्दा आदि निषिद्ध कार्योंमें व्यतीत करनेसे मानव-जीवनकी व्यर्थता ही सिद्ध नहीं होती, उल्टे हम अपनेको नाना नरकयोनियोंमें ले जाते हैं। विभिन्न जीव-शरीरोंमें जीवको जो विभिन्न प्रकारके दुःख मिलते हैं, वे सभी मनुष्य-जीवनमें किये गये कुकर्म-बीजोंके ही फल होते हैं।

( ३१ ) जिस किसी क्षण जीवका मन एकान्त-भावसे भगवान्में लग जाता है, उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है।

( ३२ ) जो समय भगवत्स्मरण-शून्य है, वह सबसे बड़ी विपत्तिका समय है; सांसारिक विपत्तिका समय विपत्तिका नहीं। विपत्तिमें भी यदि भगवत्स्मरण हो तो वह विपत्ति भी अभिनन्दनीय है।

( ३३ ) भगवान्के लिये हमारे कर्म हों, भगवान्के लिये हमारा मन हो, भगवान्के लिये ही हमारी वाणी हो—जो समय इस रूपमें बीते, वही सदुपयोगका है।

( ३४ ) भगवान्के सामने तो दीन, पर विकारोंके सामने परम बलवान् होना चाहिये। यह बल अपना नहीं, भगवान्का—

अब मैं तोहि जान्यो संसार।
बाँधि न सकहि मोहि हरि के बल प्रगट कपट आगार॥

पाप-ताप आकर हमें घेर लेंगे,—ऐसा माननेवाले भगवच्छक्तिका अपमान करते हैं। हम भगवान्के हैं और भगवान्की शक्ति हमारी रक्षाके लिये निरन्तर प्रस्तुत है। हमारे भगवान्के साथ रहते हमारे पास पाप-ताप आ नहीं सकते।

( ३५ ) जाननेका अर्थ है विश्वास हो जाना।

( ३६ ) भगवान् अमुक काम कर सकते हैं, अमुक काम नहीं कर सकते—जो लोग युक्तियों, तर्कोंसे इस प्रकारकी मीमांसा करने बैठते हैं, वे व्यर्थ ही समय नष्ट करते हैं। किन्तु जो भगवान्की अचिन्त्य महाशक्तिपर विश्वास करके उनके चरणोंका आश्रय ग्रहण कर लेते हैं, वे शान्ति पा जाते हैं।

( ३७ ) भगवान्का निग्रह एवं अनुग्रह दोनों ही बड़े विचित्र हैं। उनके निग्रहमें भी अनुग्रह है, अतएव उनकी लीला कौन जान सकता है।

( ३८ ) भगवान्का कोप, भगवान्का निग्रह निग्रह एवं कोप नहीं होते; क्योंकि उनके पास किसी-का अहित करनेवाली चीज है ही नहीं। वे जिनपर कोप करते हैं, वे जिनका निग्रह करते हैं, वे भी बड़े सौभाग्यशाली हैं।

( ३९ ) भगवान्की लीलाओंका तत्त्व जाननेकी चेष्टा न करके उन लीला-कथाओंका गायन करें, श्रवण करें—हमारा यही कर्तव्य है।

( ४० ) भगवान् बड़े अद्भुतकर्मा हैं। उनकी सारी लीलाएँ हीं परम अद्भुत एवं चमत्कारमय हैं। उन्हें देखकर पहले भ्रान्ति होती है; पर परिणाम देखकर बड़ा सुख मिलता है; बड़ी चमत्कृति होती है।

( ४१ ) असलमें भगवान्की बात भगवान् ही जानते हैं। जो लोग संसारमें किसी दुःखको पाकर भगवान्पर नाराज होते हैं, उनको कोसते हैं, वे यह नहीं जानते कि यह दुःख भी किसी महान् सुखकी पूर्व भूमिका है।

( ४२ ) सेवामें सबसे श्रेष्ठ और आवश्यक वस्तु है प्रेम। बड़े भारी उपकरणोंसे सेवा की जाय; पर प्रेम नहीं तो वह सेवा सेवा नहीं होती, दिखावा होता है। किंतु यदि प्रेम है तो वह अपने-आप उपकरणोंको ( चाहे वे अत्यन्त अल्प ही हों ) सजा देता है और उनसे विशुद्ध सेवा होती है।

( ४३ ) भगवान्के जितने वस्त्र हैं, अलंकार हैं, अस्त्र-शस्त्रादि हैं, सब-के-सब दिव्य, चेतन एवं सच्चिदानन्दमय हैं और भगवत्स्वरूप हैं। वे वैसे अदृश्य रहते हैं, पर समय-समयपर किसी घरवालेके द्वारा या भक्तके द्वारा प्रकट हो जाते हैं। यशोदा मैया जब उन्हें कोई आभूषण आदि पहनाती हैं तो भगवान्के वे अदृश्य आभूषण आदि किसी-न-किसी रूपमें उनके कोषागारमें प्रकट हो जाते हैं और उन्हीं आभूषणोंसे मैया उनका श्रृंगार करती है; किंतु भक्तको अथवा घरवालोंको यह ज्ञात नहीं होता कि भगवान्के दिव्य आभूषण प्रकट हुए हैं और वह उनके द्वारा उनका श्रृंगार कर रहा है।

( ४४ ) एकमात्र श्रीकृष्णकी कृपा ही जीवका परम संबल है। उनकी कृपामें यदि अनास्था है तो जीवके लिये कोई आश्रय नहीं। कृपा-कणिकाको प्राप्त करनेके लिये जीवके पास एक ही उपाय है कि श्रीकृष्ण-के चरणोंका आश्रय ले लिया जाय।

( ४५ ) शब्दका बड़ा महत्त्व है। शब्द ब्रह्म माना गया है। वेद शब्द ही हैं; भगवान्की वाणी हैं। वैदिक, तान्त्रिक आदि जो मन्त्र हैं, वे शब्दात्मक हैं, और उनमें अनन्त शक्ति भरी हुई है। अर्थ बिना समझे केवल उन शब्दोंके उच्चारणमात्रसे ही कल्याण हो जाता है।

( ४६ ) शब्दमें दो बातें हैं—( १ ) शब्दका उच्चारण होते ही वह समस्त आकाशमें उसी क्षण व्याप्त हो जाता है, और—( २ ) शब्द नित्य रहता है और अपने रूपमें रहता है। जिस रसका, जिस भावका जो शब्द उच्चरित होता है, वह उसी रस, उसी भाव और उसी ध्वनिको लेकर नित्य रहता है।

( ४७ ) काल, ऋतु आदिको लेकर शब्दके बहुत भेद होते हैं। कालके अनुसार एक ही आदमीके शब्दों-की ध्वनिमें अन्तर होता है; मनुष्यके भावोंके अनुसार शब्दकी ध्वनिमें अन्तर होता है; मनुष्यके शरीरकी स्थितिके अनुसार शब्दोंकी ध्वनिमें अन्तर होता है; जिस व्यक्तिके साथ शब्द बोला जाता है, उसको लेकर भी शब्दकी ध्वनिमें अन्तर होता है; तिथियों, वारों, नक्षत्रों और प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्या, रात्रि आदिमें भी शब्दकी ध्वनियोंमें अन्तर होता है।

( ४८ ) जो लोग अनर्गल बोलते हैं, उनकी वाणीमें बहुत दोष आ जाते हैं। थोड़ा बोलनेवाला हो, बकवाद न करे, जो बोले शुभ सत्य बोले तो वह जो बोलेगा, प्रकृतिको उसे पूरा करना ही पड़ेगा। महात्माओंकी वाणी सिद्ध होती है, उसमें यही बात है।

( ४९ ) बुरा शब्द अपने लिये घातक है; जिसके प्रति बोला गया है, उसका बुरा तो प्रारब्धवश होगा।

( ५० ) वाणीकी शक्ति दो प्रकारसे नष्ट होती है—१—असत्य बोलनेसे और २—व्यर्थके भाषणसे।

( ५१ ) जैसे पानी कपड़ेसे छानकर पीते हैं, वैसे ही शब्दको सत्यसे छानकर बोले।

( ५२ ) शब्दके उच्चारणमें प्रधान बात है—परिमित बोले और शुभ बोले। बिना आवश्यकता कुछ बोला ही न जाय। बाकी समयमें भगवान्के नामका उच्चारण करता रहे।

( ५३ ) मिठास कहाँ है—जहाँ प्रेम है; जलन-विष कहाँ है—जहाँ द्वेष है। प्रेममें आनन्द है, माधुर्य है; द्वेषमें विष है, जलन है।

( ५४ ) भगवान्‌के लिये कोई भी काम ऐसा नहीं, जो वे न कर सकें। अतएव जब हम किसीसे कहते हैं कि 'भगवान्‌पर विश्वास करो, तुम्हारा यह काम हो जायगा' तो इसमें तनिक भी झूठ नहीं है। हम जो इन शब्दोंके कहनेमें कुछ हिचकते हैं, इसमें हमारी नास्तिकता काम करती है। नहीं तो, भगवान्‌पर यदि किसीने सच्चा विश्वास कर लिया तो उसका काम अवश्य हो ही जायगा।

( ५५ ) किसीमें शक्ति हो तो आशीर्वाद पाप नहीं है। हमारे विश्वाससे तो आशीर्वाद देनेसे शक्ति बढ़ती है; क्योंकि आशीर्वादमें अपने पुण्यका दान किया जाता है। अतः उस पुण्य-दानका महाफल होगा ही। हाँ, आशीर्वाद भी होना चाहिये निष्काम और अहङ्कारशून्य।

( ५६ ) संदेहको लेकर जो अनुष्ठान होता है, वह सफल नहीं होता। यह वस्तु है, मिलती है और मुझे अवश्य मिलेगी—अर्थात् वस्तुमें, उसकी प्राप्तिमें और अपनेमें—इन तीन बातोंमें जहाँ पूर्ण विश्वास है, वहाँ सफलता-ही-सफलता है। इन तीन बातोंमें जहाँ संदेह है, वहीं असफलता होती है।

( ५७ ) मनुष्य कठिनाइयोंपर विजय पा सकता है—इसलिये कि वह भगवान्‌का अंश है; आग्रह, अहङ्कार, पुरुषार्थ आदिसे नहीं। सबसे बड़ा बल जो उसके पास है, वह भगवान्‌का है। मनुष्य यदि भौतिक पदार्थोंके बलपर भौतिक कठिनाइयोंको मिटाना चाहे तो वे घटेंगी नहीं, बढ़ेंगी। जहाँ भौतिक बलको मनुष्य त्याग देता है—निर्बल होकर बल-रामको पुकारता है—वहाँ कठिनाइयाँ रह नहीं सकतीं। उनकी कृपासे सारी कठिनाइयाँ अपने-आप हट जाती हैं—

**सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।**

---

# कम्यूनिज्मसे हम क्यों डरें ?

( लेखक—पं० श्रीरमावल्लभजी चतुर्वेदी )

'कल्याण'के मार्गशीर्षके अङ्कमें एक लेख पं०श्रीजानकीनाथजी शर्माका छपा है—कम्यूनिज्मका खतरा। आज सारे संसारमें कम्यूनिज्म खतरा ही माना जा रहा है। भारतमें भी यह आतंक फैला हुआ है। लेकिन हमारे शर्माजीने लिखा है कि सनातनधर्मियोंको इस खतरेसे डरना नहीं चाहिये। मैं उनसे पूरी तरह सहमत हूँ। हमलोग इस खतरेसे क्यों नहीं डरें—यही यहाँ बताना है।

जर्मनीमें एक बड़ा विचक्षणबुद्धि पण्डित हुआ है—कार्ल मार्क्स। देशी उच्चारणमें मैं उन्हें मारकेश ही कहता हूँ। उन्होंने देखा कि दुनिया विषमतासे पीड़ित है। 'कहीं खूब-खूबी और कहीं हाय-हाय है।' कोई अजीर्णकी दवा करता है तो दूसरी ओर बहुतोंकी आँतें भूखसे सूख गयी हैं। एक ओर मनमानी करनेवाले प्रभु थोड़े हैं तो दूसरी ओर असंख्य लोग प्रभुओंके पैरों तले कुचले जा रहे हैं। मारकेशने यही विषमता मिटानेके लिये कम्यूनिज्म या साम्यवादका आविष्कार अपने ढंगसे किया। इस वादकी मंशा है कि संसारमें सब लोगोंकी स्थिति बराबर हो, सबको समान सुविधा हो, कोई किसीपर शासन न करे और समाज इतना परिष्कृत, निर्लोभ और निर्वैर हो जाय कि सब लोग भाईचारेके साथ रहें। और सरकार नामकी संस्था अन्ततोगत्वा मिट ही जाय। सिद्धान्ततः कम्यूनिज्म इन्हीं बातोंकी स्थापना चाहता है, जो बुरी नहीं हैं और जो होनी भी चाहिये। इसलिये तात्त्विक दृष्टिसे कम्यूनिज्ममें डरनेकी कोई चीज नहीं और अच्छाईसे डरना नहीं, प्रसन्न होना चाहिये। फिर दुनियाके दूसरे देशोंमें दूसरे पन्थावलम्बियोंको इससे डर हो तो हो; भारतको—सनातनधर्मी भारतको इसका कोई डर नहीं हो सकता, यदि वह धर्मको आचरणमें लाये। क्योंकि कम्यूनिज्म जिस आदर्शकी स्थापना चाहता है, हमारे धर्म और ऋषियोंकी परम्परामें वही कहीं अधिक शुद्ध और अधिक सौम्य रूपमें है।

हमारे धर्मने सदा ही समताकी उपासना की है। जो परमात्मा सारे जगत्‌को समदृष्टिसे देखता है, उससे हमारे पुरखोंने समताका ही वरदान माँगा है। तुलसीदासजी भी प्रार्थना करते हैं—'दीनबंधु समता बिस्तारय।' सचमुच जब एक-एक व्यक्तिके मनमें ऐसी समताका विस्तार हो जायगा,

तभी हमसे परमात्माकी सम्यक् उपासना हो सकेगी । जब हम इस तरह सुख-दुःख और विचारमें भी समताको भजेंगे, तब कौन दुखी रहेगा, कौन किससे द्वेष करेगा या कौन किसीकी चोरी भी करेगा । कम्यूनिज्म जिस समताके आदर्शको भजता है, पता नहीं वह उसे पा भी सकेगा या नहीं । लेकिन सनातनी भारतके सारे धर्माचरणका साध्य तो वही समताका विस्तार है। वह यदि धर्मके इस रूपको समझ ले तो समताकी सिद्धि उसे सहज है, सरल है । क्योंकि मारकेशी समताका आधार तो अस्तिमतों ( haves ) और नास्तिमतों ( haves not ) का वर्गद्वेष है । पर हमारी समताका स्रोत हमारी धर्मबुद्धि और कर्तव्यप्रेरणामें है ।

इसी समताकी साधनाके लिये हमारे आचार्योंने धर्मका जो स्वरूप स्थिर किया है, वह ऐसा है कि यदि हम उसका सही-सही आचरण करें तो हम जहाँ पहुँचेंगे, वह समताकी ही स्थिति होगी—दूसरी नहीं । पण्डितजीने अपने लेखमें धर्मका लक्षण बतानेवाला प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

इन दस लक्षणोंमें अस्तेय भी है। स्तेय कहते हैं चोरीको और अस्तेय हुआ चोरी न करना । यदि हम चोरी करना छोड़ दें तो अपने आप समत्वको प्राप्त करते हैं । पर हम तो चोरीको ही अधिकार मान बैठे हैं । ऐसी हालतमें अस्तेयका पालन भी कैसे कर सकते हैं और समता ही कैसे मिल सकती है । किसी धनसम्पन्नके घर सेंध लगाकर धन हरण करना या इसी तरहके और साधनोंद्वारा अस्तिमतों—सम्पन्नोंका माल मूसना चोरी मानी जाती है । दण्ड-विधानमें चोरीकी यही सब परिभाषा है । पर धर्मकी दृष्टिसे विचार करें तो पता चलेगा कि चोरी इतनेको ही नहीं कहते । जिन सम्पन्नोंके घर चोरी की जाती है, वास्तवमें चोर वे भी हैं । यह दूसरी बात है कि आजका कानून उन्हें चोर नहीं कहता । पर धर्म तो उन्हें चोर ही मानता है । ईशावास्योपनिषद्का पहला ही मन्त्र है—

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

अर्थात्—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानहु भाई ॥

और यह माया यदि किसीकी है तो उसी मायापतिकी । इसलिये तुम किसीके धनका लालच मत करो । दूसरेकी इन तमाम वस्तुओंको छोड़कर जो बचे, उसे तुम भोगो । ऐसी हालतमें आप ही विचारिये हम तमाम लोग जो तथाकथित कानूनसम्मत उपायोंसे धन पैदा करते हैं और दूसरोंका न्याय्य भाग न देकर उसे जोड़-जोड़कर धनपति बनते हैं, वह क्या ईश्वरकी दृष्टिमें चोरी नहीं करते ? और सो भी ईश्वरकी ही । इसलिये 'अस्तेय' व्रतके निर्वाहके लिये हमारे पुरखोंने 'अपरिग्रह'का भी उपदेश दिया है । परिग्रह कहते हैं संग्रहको । जो धनका संग्रह करता है, वह अस्तेयका नहीं, स्तेयका आचरण करता है और चोर है ।

इसपर सवाल उठ सकता है कि तब तो हमें कोई काम-धाम नहीं करना चाहिये और न कुछ खाना-पीना ही चाहिये । अर्थात् चुप-चाप मर जाना चाहिये । पर यह सोचना तो अविद्याकी बात हुई । ऊपरके श्लोकमें धर्मके लक्षणोंमें धी अर्थात् बुद्धि और उसे जगानेवाली विद्या भी है। हमें विद्या-बुद्धिसे धर्मका आचरण करना चाहिये । 'सा विद्या या विमुक्तये' विद्या उसे कहते हैं, जो हमारा बन्धन काटे, हमें मुक्त करे । वह विद्या हमें बताती है कि तुम किस तरह सोचो, किस तरह करो तो तुम्हारे बन्धन कटें । हमें समताकी प्राप्तिके लिये उसी धी और विद्याकी उपासना करनी चाहिये । भगवान्ने हमें पैदा किया है कि हम अपने-अपने हिस्सेका काम उसीके निमित्त करें, अपने लिये न करें । उसके निमित्तका अर्थ है—

नात्मार्थं न चार्थार्थमथ भूतदयां प्रति ।

जो कुछ हम करें, लोककल्याणकी भावनासे करें—यही प्रभुप्रीत्यर्थ हुआ । इस तरह उस अपने बापकी सेवा करते हुए हमारी जो मजूरी हो, हम उसका ही भोग करें । प्रभुके प्रसादस्वरूप जीवननिर्वाहका लेना ही त्यागमें भोग है ।

इस त्यागमय भोगको ही गाँधीजीने 'थातीदारी' ( ट्रस्टीशिप ) कहा है । उनके अनुसार हम तमाम लोग जिसकी जैसी शक्ति और समझ है, दुनियाके सारे व्यापार लोककल्याण अर्थात् यज्ञबुद्धिसे करें । पर वह व्यापार भी न्याय और धर्मसम्मत हो । हमारे कामके फलस्वरूप हमारे पास हमारी जरूरतसे ज्यादे साधन भी जुट सकते हैं । ऐसे अतिरिक्त साधनके भोक्ता और स्वामी हम न बनें । वह जिसका है, उसे ही लौटा दें । अर्थात् उसे लोककल्याणमें लगा दें । इसीका नाम लोकभाषामें दान है । पर दान किसका ? जो अपना

हो। हमारे भोजन-वस्त्रसे अतिरिक्त जो है, वह तो हमारा है ही नहीं। वह तो दूसरेकी थाती है। उसका दान हम कैसे कर सकते हैं। यदि हम अपने भोजन-वस्त्रकी वस्तु आतुरको दे डालते हैं तो वह हमारा दान कहा जा सकता है।

पर सवाल यह हो सकता है कि हमारी जरूरतें क्या हैं और कितनी हैं! कोई साधन-सम्पन्न कह सकते हैं कि इतने सौ बीघा जमीन, इतना बड़ा महल, इतने दास-दासी, इतना भोजन, इतने वस्त्र, इतने वाहन आदि। तब तो जरूरतोंका अन्त कहीं नहीं होगा। इस बारेमें राजा ययातिकी चेतावनी पर्याप्त होगी --

> यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
> एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत् ॥
> या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
> योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥

इस बारेमें टाल्सटायकी एक कहानी है, जिसमें उन्होंने दिखाया है कि मनुष्यकी जरूरतें बहुत बड़ी नहीं होनी चाहिये। उस कहानीमें है कि एक आदमी सारे जीवनमें अधिक-से-अधिक भूमि बढ़ाता रहा, जब मरा तो उसके हिस्से केवल तीन हाथ जमीन लगी। अर्थात् तीन हाथमें उसकी कब्र बनी। पर हमारे धर्मने तो उतनी भूमि भी हमें नहीं दी है। यह 'सबै भूमि गोपालकी' है। हम तो मरनेपर जला दिये जाते हैं और जिस मट्टीसे बने हैं, उसीमें मिल जाते हैं। इसलिये हमारे धर्ममें हर एक आदमीकी जरूरत उतनी ही मानी गयी है, जितनेसे उसकी देहका पोषण और रक्षण देशकालके अनुसार हो सके। अर्थात् हरेक नीरोग मनुष्यको उसकी उम्रके हिसाबसे अमुक मात्रामें अन्न, फल, दूध, घी, आदि वस्तुएँ ऋतु-अनुरूप मिलनी चाहिये। इसीको कबीरजीसे सुन लीजिये कि हमारी कितनी जरूरत है--

> साँई इतना दीजिये, जामें कुटुम समाय।
> मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥

कम्यूनिज्म जो काम आज कानून और तलवारके जोरसे करना चाहता है, हमारे धर्मने वही काम हमें अपनी प्रेरणासे करनेकी सलाह दी है। यदि हम यह सलाह मान लेते हैं और धर्मका आचरण करते हैं तो कम्यूनिज्मको हमारे ऊपर लादनेको कुछ रह नहीं जायगा। उल्टे वही कुछ हमसे सीखेगा। पर यदि हम धर्मकी आज्ञा उल्लङ्घन करते जायँगे तो दुनियाके दस्तूरके अनुसार बातसे नहीं माननेपर लात खानी ही पड़ेगी—वह लात कम्यूनिज्मकी हो या किसी और इज्मकी। इसलिये सनातन-धर्मियोंसे मेरी प्रार्थना है कि वे धर्मके स्वरूपको समझनेकी ओर उसे जीवनमें उतारनेकी नयी चेष्टा करें। तभी दुनियामें न राजाका राज होगा न कम्यूनिज्मका। तब होगा राम-राज्य, जिसमें—

> बैर न कर काहू सों कोई। राम प्रताप बिषमता खोई ॥

अथवा—

> दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
> जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज ॥

इस तरह यदि हम सनातन-धर्मके बारेमें विचार करते हैं तो पाते हैं कि जो अच्छी बातें कम्यूनिज्म बताता है, उनपर हमारा लक्ष्य पहलेसे है। इसलिये कम्यूनिज्मसे डरना क्या। पर कम्यूनिस्ट नामका जो दल है, वह अपने प्रकट उद्देश्यकी अच्छाईके साथ दुनियामें शान्ति ही फैला रहा हो—सो बात नहीं है। यह चिन्ताका विषय है जरूर। वे लोग अच्छे उद्देश्यके लिये बुरे साधन अङ्गीकार करते हैं। और यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि कम्यूनिज्मका उद्भव धर्मबुद्धिके बदले द्वेषबुद्धिसे हुआ है। इसलिये उनका अच्छा उद्देश्य रहते भी द्वेषके कारण वह दूषित हो जाता है, और उससे द्वेष्यवर्गकी हिंसा-प्रतिहिंसा होने लगती है। इसलिये वह दुनियाका भला कर सकेगा—यह माननेमें मुझे हिचक है। इसके बदले हमारा साम्ययोग धर्मके साथ हमसे 'अपरिग्रह' और 'अस्तेय' व्रत लेनेको कहता है। इसलिये हम यदि चाहें तो अपने सत्य धर्माचरणसे दुनियामें साम्ययोग अथवा गान्धीजीके शब्दोंमें 'सर्वोदय'का प्रसार कर सकेंगे। इसलिये समय रहते हम कम-से-कम अपने देशमें तो धर्मका ऐसा राज्य स्थापित कर दें, जिसमें 'राम राजा, राम परजा, राम साहूकार' हो। तब कम्यूनिज्मकी आगको हमारे देशमें जलानेके लिये कुछ रह ही नहीं जायगा। बहुत संभव है हमारी यज्ञाग्निमें तपकर कम्यूनिज्म भी पवित्र हो जाय। इसलिये वेदके स्वरमें हम सब कहें—

> ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
> तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै ॥
> ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

# आदर्श पत्नी
## ( कहानी )

उस छोटे-से गाँवके पूरब था सोनका प्रवाह और उसके तटके समीप ही छोटा-सा बगीचा था। आम, जामुन, महुआ, नीम और इमलीके वृक्ष लगे थे उसमें। बगीचेमें रानीके पिताने फूँसकी छोटी-सी झोंपड़ी लगा रक्खी थी।

सावन-भादोंके महीनेमें जब मेघ बरसने लगते तो रानीका पिता खेतसे भागकर वहाँ आ जाता। माघ-पूसके दिनोंमें जब शीत समीर तीरकी तरह लगता, तब भी वह उसी झोंपड़ीमें पुआलपर कम्बलसे अपनी काया ढँके पड़ा रहता और गर्मीके दिनोंमें जब आकाश ताँबेकी चद्दरके समान लाल हो जाता, पृथ्वी भाड़की तरह धधकने लगती और हवा आगकी लपटोंकी तरह दौड़ती, तब भी वह उसी झोंपड़ीमें बैठता, सोता और तंबाकू पीता। मिट्टीका कलश और एक लोटा वह उस झोंपड़ीमें सदा रक्खे रहता।

पर जब तीन दिनकी बीमारीमें वह रानी और उसकी माको असहाय छोड़कर चला गया, तब सब कुछ बदल गया। अभी पूरा एक वर्ष तो नहीं हुआ, झोंपड़ी जीर्ण हो गयी। वर्षामें उसकी फूस भी नहीं बदली जा सकी। बदलनेकी बुढ़ियाको अपेक्षा भी नहीं। जलभरा मिट्टीका कलश और लोटा भी वह नहीं रखती थी, वह तो सारे दिन खेतके कामसे इस तरह चिपकी रहती कि प्यास उसके पास फटकने नहीं पाती। और रानीको तो जब भी तृषा लगती, वह सोनकी ओर दौड़ पड़ती और वहाँ अञ्जलि भर-भर भरपेट पानी पी लेती।

उस दिन जब रानीका मन घरपर नहीं लगा, तब वह अपने बगीचे आ गयी। सोनकी ओर पीठकर वह बैठी हुई विचारोंकी उधेड़-बुनमें लगी थी। उसने देखा दिन बीत चला है। प्रतीचीके आँगनमें अंशुमालीने सिन्दूर बिखेर दिया है। उसका सिन्दूरी प्रतिबिम्ब खेतों और वृक्षोंकी चोटियोंपर पड़ रहा है। हवा धीरे-धीरे बह रही है।

अत्यन्त सुहावना दृश्य था उस समयका; किंतु रानीका अशान्त मन तनिक भी नहीं बहल पाया। उसने सोनकी ओर मुँह फेर लिया। देखा, सोन सिमटकर मोटी रेखा-सी बन गयी है। उसके विस्तृत पाटमें फैली हुई बालुकाएँ सिन्दूरी किरणोंका संस्पर्श पाकर लाल हो गयी हैं। सोनके पानीमें जैसे गुलाल घोल दी गयी हो। पर जाने क्यों वह उदास होकर धीरे-धीरे बह रही है। उसके तटके वृक्ष मुँह लटकाये शान्त खड़े हैं।

रानीको कुछ अच्छा नहीं लगा। उसने दोनों हाथोंसे अपना सिर थाम लिया। आँसूसे उसकी हथेली भीग गयी, पर वह रोती ही रही। उसने सिर उठाया तो देखा, एक अत्यन्त सुन्दर और स्वस्थ नीलगाय सामनेसे भागी जा रही है।

आँचलके छोरसे उसने आँसू पोंछे। सूजी हुई लाल आँखोंसे उसने देखा, स्वच्छाकाशमें चतुर्दशीका चन्द्र चमक रहा है। वह धीरे-धीरे घरकी ओर चल पड़ी।

'भूख नहीं है, मा!' माके आग्रहका संक्षिप्त उत्तर देकर वह पड़ोसीके घर कथा सुनने चली गयी।

'स्त्रियाँ शक्तिस्वरूपा हैं।' विद्वत्ताके साथ त्याग और तपस्याका संयोग कथावाचककी वाणी एवं तेजस्वी ललाटसे भासित हो रहा था। वे कह रहे थे, 'उमा, रमा और ब्रह्माणी हमारी देवियाँ ही हैं। वे सूर्यका रथ रोक सकती हैं, अल्पायुको दीर्घायु और अत्यन्त दरिद्रको विपुल वैभवसम्पन्न कर सकती हैं। सृष्टि और प्रलयकी क्षमता पालना झुलानेवाले कोमल करोंमें विद्यमान है। सती गृहिणीके लिये कुछ भी असम्भव नहीं।'

कथावाचकका एक-एक शब्द रानीके हृदयमें चुभता जा रहा था। कथा समाप्त होते ही वह उठी और अपनी मौसीके घर चली गयी। उसकी मौसी उसके पड़ोसमें ही ब्याही गयी थी।

'आज रातमें कैसे, रनिया?' मौसीके प्रश्नके उत्तरमें रानीकी आँखोंसे आँसू झरने लगे। उसने सिसकते हुए कहा, 'मेरी बात नहीं मानेगी तो मैं अफीम चाट जाऊँगी, मौसी!'

'क्या हुआ, बेटी?' मौसी, घबरा गयी। उसने तुरंत कह दिया 'तू जो कहेगी, मैं सब करूँगी।'

'रुपयेके लोभमें आकर मा आफत कर रही है, मौसी!' रानीने धीरे-धीरे कहा 'पिताजीको मरे कुछ दिन भी नहीं बीत पाये कि रामपुरके कोयरीने, जिसकी उमर पैंतालीस पार कर गयी है, माको रुपयेके सहारे बहका लिया है। मा कहती है, हमारी जातिमें तो दुबारा सगाई होती ही है, अभी तो इसका गौना भी नहीं हो पाया है। पर मैं यह सब नहीं चाहती, मौसी!'

'पर अभी-अभी तो तेरे ससुरके भी मरनेका समाचार आया है न!' उसकी मौसीने सोचते हुए कहा। 'अब तो वहाँ तेरे पति और सासके सिवा और कोई नहीं रह गया। वह गरीब भी है। सुनती हूँ कि वह बड़ी मुश्किलसे कमा-खा

सकता है। तेरी मा तो तेरे सुखके लिये ही ऐसा करना चाहती है, बेटी !'

'पर मैं कुतियोंकी तरह मनमानी नहीं कर सकती, मौसी !' रानी फफक पड़ी। 'आधा पेट खाकर सो जाना मैं अच्छा समझूँगी, पर दुबारा सिन्दूर-दान नहीं करूँगी। मुझे बचा ले, मौसी ! मैं मरनेतक तेरा अहसान नहीं भूलूँगी।' उसकी हिचकियाँ बँध गयीं।

'कल सवेरे ही अपने लड़केको तेरे ससुराल भेज देती हूँ।' उसकी मौसीकी आँखें भी गीली हो गयीं। रानीको अपनी गोदमें दबाते हुए उसने कहा, 'तेरा विचार बहुत अच्छा है, बेटी !'

रानी सवेरे ससुराल पहुँच गयी।

... ... ... ...

रामू अच्छी तरह जानता था कि उसकी पत्नी साक्षात् देवी है। वह यदि नहीं चाहती तो रामू उसे अपने घर नहीं देख पाता और जबसे उसने घरमें पैर रखखा है, उसका घर जैसे स्वर्ग बन गया है। लगता है जैसे लक्ष्मी उसके घरमें दिन-रात हँसती-खेलती रहती है।

पत्नीके आनेके पूर्व उसकी मा कभी दोपहरको स्नान करती तो कभी तीन पहरको। कभी ऐसा भी आता कि वह वस्त्र भी नहीं बदलती; लेकिन उसकी पत्नीने उसे बिल्कुल बदल दिया। अपने साथ प्रातःकाल ही वह माको स्नान करा देती, उसके कपड़े वह स्वयं धोती। धोकर फैला देती।

उसने आँगनमें तुलसीका बिरवा लगा दिया है। सवेरे ही मा और पत्नी वहाँ जल चढ़ाती हैं, श्रद्धापूर्वक प्रार्थना करती हैं। पत्नीके आग्रहसे दो बैलोंके साथ अब एक गाय भी रहने लगी है। गो-पूजन प्रतिदिन नियमितरूपसे होता है। परिवारमें श्रद्धा-भक्ति और प्रेमकी सरिता प्रवाहित होती रहती है।

पर वह विवश था। गाँजा पीनेकी ऐसी बुरी लत उसे लग गयी थी कि वह छोड़ नहीं पाता। उसके पास इतने पैसे नहीं थे कि वह प्रतिदिन चिलमपर फूँक दिया करे। इसके लिये कितनी बार रानीने विनयपूर्वक मना किया, पर ......'क्या किया जाय, वह मन-ही-मन पश्चात्ताप कर रहा था।

अकस्मात् माकी गालियोंकी बौछार सुनकर रामूकी विचारधारा टूट पड़ी। वह दौड़ पड़ा। उसकी मा पत्नीको बड़े जोरोंसे डाँट रही थी और क्रोधावेशमें उसपर हाथ उठाने जा रही थी। रानी सिर नीचा किये चुप थी।

रामूने माको डाँटना शुरू ही किया था कि उसकी पत्नी बीचमें आ गयी। हाथ जोड़ते हुए उसने कहा—'अपराध तो मेरा ही है। चावलभरी बटुली तो मुझसे ही उलट गयी थी।'

'तो तुमने जानकर तो उलटा नहीं होगा' क्रोधसे काँपता हुआ रामू बोल गया। 'पर मा तो मा हैं न !' रानी रो पड़ी।

रामू बाहर चला गया।

माने पैर खींच लिया। रात्रिमें रानी माको तैल न लगाये, यह उसके लिये सह्य नहीं था। वह रो पड़ी और रोती ही रही।

'ले,' बहू ! तेल लगा' आधी राततक पैरोंके पास बैठे रोते देखकर रामूकी माका कलेजा हिल गया था। वह अपने भाग्यकी सराहना करती हुई मन-ही-मन बहूको आशीष दे रही थी।

... ... ... ...

'आज तो मेरे पास पैसे नहीं!' मध्याह्नतक धरती चीरते रामू थक गया था। रानीका उत्तर वह सह नहीं सका, उसे क्रोध आ गया। वह उठा और रानीको उसने तीन-चार लात जमा दी। वह रोने लगी।

'तुझे शर्म नहीं आती ?' रामूकी मा उस समय घरमें नहीं थी। लौटकर बहूको रोते देखा तो रामूपर बिगड़ खड़ी हुई।

'उन्हें कुछ मत कहो, मा !' पुत्रवधूने मुँह थाम लिया। वह कुछ नहीं बोल पायी। और उसी दिन रामूके सिरमें दर्द होने लगा। रानीने देखा उसका शरीर तवेकी तरह जल रहा था। वह काँप उठी।

... ... ... ...

दो मास बीत गये। ज्वर नहीं छूटा। रामू सूखकर काँटा हो गया। उसके शरीरमें चर्माच्छादित अस्थियोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया था। रामूकी मा जीवित शवकी भाँति रामूके समीप बैठी रहती। कर्तव्याकर्तव्य कुछ नहीं सूझ रहा था उसे।

—और रानी ? उसका तो प्राण ही छिनने जा रहा था। पर धैर्य और साहससे काम लिया उसने। प्रातःस्नान और गौ तथा तुलसीजीका पूजन वह और मनोयोग एवं श्रद्धासमन्वित हृदयसे करने लगी। तुलसीकी प्रार्थना करते समय उसकी आँखोंसे आँसूकी धाराएँ बह चलतीं।

इसके बाद पतिके कपड़े बदलवाकर उन्हें ओषधि पिलाती। फिर माको आश्वासन देकर खुर्पी-खाँची ले घासके लिये निकल पड़ती।

पूरे दो घंटे नहीं बीत पाते कि उसकी खाँची भर जाती। जल्दी-जल्दी गाय-बैलोंको खिला-पिलाकर वह भागती हुई घर आती। अपने पेटका खड्डा भरनेके लिये उसे कोई चिन्ता नहीं थी। यदि सासको नहीं खिलाना होता तो कदाचित् वह

दो-तीन दिनोंमें ही एकाध बार रोटी बनाती । रात आधीसे पार हो जाती, पर वह पतिके समीप बैठी हुई समझाती और उसके स्वास्थ्यके लिये परमेश्वरसे प्रार्थना करती रहती ।

अपनी पत्नीके अनन्य प्रेम और श्रमपूर्ण सेवासे रामू उसका ऋणी हो गया। उसे अपने जीवनकी आशा नहीं रह गयी थी; इस कारण जब भी उसे रानीको मारनेकी याद आती तो उसका कलेजा छिल जाता । वह सोचता 'ऐसा लक्ष्मीपर हाथ उठनेके पहले मेरा हाथ टूट क्यों नहीं गया ?'

'मेरे लिये यह कितना कष्ट उठाती है। मुझे तनिक भी चिन्ता स्पर्श न कर सके, इसके लिये यह कितना प्रयत्न करती है।' वह मन-ही-मन सोच रहा था। तनिक-सी इच्छा प्रकट करते ही रानी दौड़ गयी और गाँजा चिलमपर रख दिया। आगकी चिनगारी स्पर्श करते ही गाँजेकी गन्ध फैल गयी। रामूने चिलम ले ली।

पर सहसा उसने चिलम फेंक दी । 'अब मैं गाँजा कभी नहीं पीऊँगा । इसीके कारण तो मैंने तुमपर हाथ उठाया था।' रामूकी धँसी आँखें गीली हो गयीं । उसने सिसकते हुए कहा, 'यदि अबकी बार भगवान्ने मेरी जान बचा दी तो मैं गाँजा कभी नहीं पीऊँगा।' रानीकी आँखें भी बह रही थीं ।

... ... ... ...

पतिकी चिकित्साके लिये रानीने अपने एक-एक करके सब गहने बेच दिये। ओषधिके साथ भगवत्प्रार्थनाके संयोगसे रामूका ज्वर शान्त हो गया और वह धीरे-धीरे सुधरने लगा।

-रामू स्वस्थ हो गया। वह सुखी था । पर जिस समय उसे अपनी पत्नीके आभूषणहीन अङ्गपर दृष्टि जाती, वह व्याकुल हो जाता। 'आभूषणके लिये स्त्रियाँ क्या नहीं करतीं। अभी उस दिन उसके पड़ोसमें भैंस बेचकर तो हँसुली बनी थी।' विचारके आवेगमें वह छटपटा जाता । मनकी व्यथा वह पत्नीपर प्रकट नहीं करता।

'तुम्हारे शरीरपर एक भी गहना नहीं !' पड़ोसिनने रानीसे पूछा।

'ऋण लेकर मैं गहना नहीं पहनना चाहती।' रानीने तुरंत उत्तर दिया।

और उसी समय रामू खेतसे आ रहा था। पत्नीकी गर्वोक्ति उसने भी सुन ली। उसका हृदय गद्गद हो गया।

'तुम स्त्री नहीं, देवी हो, रानी !' हर्षोत्फुल्ल रामूने कहा। 'तुम्हारी-जैसी स्त्रियाँ भगवान् करे घर-घर......'

रामूका वाक्य पूरा होनेके पूर्व ही रानीने उसकी चरण-धूलि ले ली। —शि० दु०

# कामके पत्र

## ( १ )

## उपयोगितावाद

प्रिय महोदय ! सादर हरिस्मरण । कृपापत्र मिला । धन्यवाद ! आपने गाय-बैलोंकी रक्षाका आधार उनकी उपयोगिताको ही माना है । 'गाय दूध देती है, उसके बछड़े बैल बनकर खेती और बोझ ढोनेके काममें आते हैं; अतएव उनकी रक्षा आवश्यक है । इस उपयोगिताको ध्यानमें रखकर ही उनकी रक्षाको धर्म और हिंसाको पाप माना जाता है । बकरीके बच्चे विशेषतः उसके नर-बच्चे मनुष्यके लिये वैसे उपयोगी नहीं हैं । अतः उनकी रक्षा क्यों की जाय ?' यह आपका प्रश्न है ।

किसी भी जीवका क्या उपयोग है, यह उसके निर्माता ही जान सकते हैं । जिन परमेश्वरने विविध जीवोंकी तथा सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि की है, वे ही सबका उपयोग जानते हैं । कौन जीव कब उत्पन्न हो, कबतक रहे और कब उसका उपयोग समाप्त होकर उसका अन्त हो जाय—ये सभी बातें परमेश्वरके ज्ञानमें हैं; अतः वे ही जीवके स्रष्टा, पालक और संहारक हैं । जो जन्म देता है, वही मार भी सकता है । दूसरेको क्या अधिकार है कि वह दूसरोंकी वस्तु नष्ट करे । उपयोगिताकी दृष्टिसे ही यदि रक्षा की जाय तो जीर्ण रोगीका पालन अनावश्यक होगा । बूढ़े माता-पिताकी भी रक्षा आवश्यक नहीं मानी जायगी तथा बूढ़ी गाय और बैलको मार डालनेमें कोई दोष नहीं समझा जायगा । यह उपयोगितावाद भारतीय दृष्टि नहीं है, पाश्चात्त्य पद्धति है । इसलिये वहाँके लोग मांसके लिये गौ आदि पशुओंका वध कर डालते हैं ।

भारतीय दृष्टिकोण दूसरा है । यहाँ यह नहीं सोचा जाता कि दूसरे जीव हमारे लिये कितने उपयोगी हैं । अपितु यह सोचा जाता है कि दूसरे लोगों या जीवोंके लिये हम कितने उपयोगी हो सकते हैं। इसीलिये भारत-सम्राट् दिलीपने एक गायकी प्राणरक्षाके बदले अपने शरीरको निर्जीव मांसपिण्डकी भाँति सिंहको समर्पित कर दिया—

उपानयत् पिण्डमिवामिषस्य ।

स्वार्थमूलक प्रवृत्ति तो प्राणिमात्रमें समान है । मनुष्यकी यही विशेषता है कि वह धर्म कर सकता है। उसके कर्म यज्ञार्थ हो सकते हैं। स्वयं किसीसे सेवा या स्वार्थसाधन न कराकर सदा दूसरोंकी सेवा और सहायता करना परोपकार अथवा यज्ञ है । सबमें भगवद्दृष्टि रखकर सबकी सेवाको भगवान्की सेवा मानकर सदा परहित-साधनमें संलग्न रहना ही मानवताका उच्चतम आदर्श है । ऐसे व्यवहारसे मानव देव बनता है । नर नारायणका सखा बन जाता है । नारायणस्वरूप हो जाता है । और इसके विपरीत स्वार्थमूलक आसुरी वृत्तियोंको प्रश्रय देनेवाला मानव दानव हो जाता है, मानवतासे बहुत नीचे गिर जाता है ।

जो विश्वनियन्ता परमेश्वरके लिये उपयोगी हो, उसके बनाये हुए विश्वके संरक्षणमें जिसका उपयोग हो सके, वही वस्तुतः उपयोगी है और यही सच्चा उपयोगितावाद है । इसमें स्वार्थ हेय है और परार्थ एवं परमार्थ ध्येय । मनुष्य जब यह सोचता है कि अमुक जीव उपयोगी है या नहीं, तब वह अपनेको ही सामने रखता है । तात्पर्य यह कि जो मेरे अपने लिये उपयोगी हैं, उन्हींका यहाँ रहना सार्थक है । इसीलिये एक स्वार्थान्ध मनुष्य दूसरे मनुष्यका, अपने ही भाईका भी खून कर डालता है । क्या मनुष्यके लिये उपयोगी होना ही उपयोगिता है ? यदि मनुष्यके लिये अनुपयोगी होनेके कारण दूसरे जीव समाप्त किये जा सकते हैं तो दूसरे समस्त जीवोंके लिये अनुपयोगी होनेके कारण मनुष्य-जातिको ही क्यों न समाप्त कर दिया जाय ? मनुष्यके पास इसका क्या उत्तर है ? वह कभी अपनेको घाटेमें नहीं रखना चाहता और इसीलिये वह दूसरोंके प्रति न्याय नहीं कर सकता ।

अतएव हमारे यहाँ व्यक्ति अथवा मनुष्यकी इच्छाको प्रधानता न देकर कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णयमें शास्त्रको प्रमाण माना गया है । गीतामें स्वयं भगवान्का कथन है—

**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।**

शास्त्र भगवान्की आज्ञा है—

**श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे ।**

इन आदेशोंका वीतराग महर्षियोंने संकलन किया है, जो धर्मनिष्ठ थे । स्वार्थमयी प्रवृत्तियोंसे ऊँचे उठकर मानवताके उच्चतम आदर्शमें—देवत्वमें सुप्रतिष्ठित थे । अतः शास्त्रीय आज्ञाओंके पालनसे न केवल मानवका ही, अपितु सम्पूर्ण जीव-समुदायका, समस्त जड-चेतनमय जगत्का कल्याण हो सकता है । शास्त्रकी यह स्पष्ट आज्ञा है—'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' किसी भी जीवकी हिंसा न करो ।

जबतक हृदयमें स्वार्थभावना डेरा डाले हुए हैं, तबतक केवल उपयोगितावादका सहारा लेनेवाला घोर अन्धकारमें ही गिरेगा । अतः कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको वैसे कुतर्कोंसे बचना और शास्त्रीय आदेशोंके पालनमें दत्तचित्त रहना चाहिये । शेष भगवत्कृपा ।

( २ )

## भगवान् दुःख नहीं देते

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । कृपापत्र मिला । धन्यवाद ! आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

( १ ) भगवान् दुःख नहीं देते, दुःखनिवारणका उपाय करते हैं । परंतु अपनी नासमझीके कारण हम उसको दुःख मानने लगते हैं । भगवान् करुणामयी माताके सदृश स्वभावसे ही दयालु हैं । जैसे माताको अपने बालकपर सहज स्नेह होता है, उसी प्रकार भगवान् हम सबपर स्वभावतः स्नेह रखते हैं । बालक इच्छानुसार घूमता हुआ अपने अङ्गोंमें मल-कीचड़ आदि लगा लेता है और उसे धोना भी नहीं चाहता । दयामयी जननी बालकके हितके लिये ही उसकी इच्छाके विपरीत उसे ठंडे जलसे नहलाती है । बालक रोता है, चिल्लाता है और मन-ही-मन समझता है कि मा उसे दुःख दे रही है । परंतु बात ऐसी नहीं है । माता उसे सुखी और स्वस्थ बने रहनेके लिये ही वह क्षणिक कष्ट उसको स्वीकार कराती है । इस प्रकार जीव भी भगवान्का बालक है । वह स्वरूपसे शुद्ध है, फिर भी अज्ञानी शिशुकी भाँति पाप-पङ्कमें लिप्त हो जाता

है। भगवान् माताकी भाँति सहज स्नेहके कारण उसे इस पाप-तापसे मुक्त करनेका यत्न करते हैं, जीव उस प्रयासका रहस्य न समझकर भगवान्‌को निष्ठुर बताता और उन्हें दुःख देनेवाला मानता है। जो घाव सारे शरीरमें जहर फैलाता हो, उसको चीर डालनेमें ही शरीरका हित है, सहलानेमें नहीं। इसी प्रकार पापरूपी मैलको धोने या अघरूपी घावका घातक प्रभाव मिटानेके लिये जीवको क्षणिक दुःखरूपी उपचार स्वीकार ही करना चाहिये और इसमें भगवान्‌की परम दया मानकर प्रसन्न ही होना चाहिये।

( २ ) यह ठीक है कि सारा जगत् श्रीकृष्णका स्वरूप है। इसके अणु-अणुमें श्रीकृष्ण ही व्याप्त हैं, वे ही इसके उपादान भी हैं; अतः सब कुछ परमानन्द-स्वरूप ही है। क्योंकि श्रीकृष्ण परमानन्दमय हैं। फिर भी तो सबको आनन्दका ही अनुभव नहीं होता अथवा किसीको भी दुःखका अनुभव होता है, इसका कारण भ्रम अथवा अज्ञान ही है। मनुष्य बड़े आनन्दसे घरमें खाटपर सो रहा है, किंतु स्वप्नमें उसे हाथी खदेड़ रहा है, अतः वह रोता है, डरता है, घबराता है और व्यथाका भी अनुभव करता है। जब सहसा नींद खुल जाती है, तब उसके सभी दुःख शान्त हो जाते हैं। वह पूर्ण निर्भय एवं सुखी हो जाता है। वह समझ जाता है कि यह दुःख-शोक भ्रमके कारण था। अब वह भ्रम या अज्ञान नहीं रहा, अतः दुःख भी चला गया। इसी प्रकार संसारके जीव अपनेको श्रीकृष्णसे सर्वथा भिन्न मानकर अहङ्कारवश देहमें आसक्त हो जाते हैं और अनेक प्रकारसे राग-द्वेषमूलक सम्बन्धोंमें उलझकर दुःख-शोकके अधीन होते रहते हैं। जब भगवान्‌की दयासे उनका यह स्वप्न या मोह भङ्ग होता है और वे अपनेको श्रीकृष्णसे अभिन्न अनुभव करने लगते हैं, तब वे सचमुच परमानन्दमें ही निमग्न रहने हैं; फिर उन्हें कभी दुःख-शोकका अनुभव नहीं होता।

( ३ ) मानसमें जिन १४ व्यक्तियोंको जीवित शवके समान बताया गया है, वे भी यदि आत्मघात करें तो पापके भागी होंगे। उन्हें जीतेजी जो दुःख या कष्ट है, वह उनका प्रारब्ध-भोग या अपने ही कर्मोंका फल है। उसे धैर्यपूर्वक भोग लेनेसे वे पाप-ताप धुल जायँगे, फिर उनका भावी जीवन सुखमय हो सकता है; किंतु यदि उस भोगसे बचनेके लिये वे आत्मघात करते हैं तो भविष्यमें शेष भोग तो उन्हें भोगना ही पड़ेगा। आत्मघाती अनन्तकालतक अन्धकारपूर्ण नरकमें यातना भोगते हैं—

**असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।**
**तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥**

जीवित शव-सम कहनेका अभिप्राय उन मनुष्योंको मृत्युकी ओर प्रेरित करना नहीं, उनमें आत्मचेतना जाग्रत् करना है।

( ४ ) आकाशवाणी पहले भी किसी-किसीके जीवनमें ही व्यक्त होती थी, अब भी व्यक्त हो सकती है। पर यह सब ईश्वरकी इच्छाके अधीन है। मनुष्य इसको स्वेच्छानुसार नहीं सुन सकता। भगवान् जब जिसको आकाशवाणीद्वारा कोई सन्देश देना चाहेंगे, तभी वह उसे सुनायी पड़ेगी। अब भी अधिकारी महापुरुष आकाशवाणी सुनते हैं, सुन सकते हैं।

( ५ ) भगवान्‌का दर्शन उसीको होता है, जिसके हृदयमें भगवद्दर्शनकी उत्कट अभिलाषा रहती है और जो दर्शनके लिये व्याकुल होकर निरन्तर भगवान्‌को पुकारता रहता है।

( ६ ) जो प्रभुको चाहनेवाले हैं, प्रभुता उनकी चेरी है। वे प्रभुताको ठुकराकर प्रभुके चरणोंमें आत्म-समर्पण करते हैं। आजके अर्थप्रधान युगमें जो अधिक लोग लक्ष्मी चाहते हैं, वे प्रभुके प्रति अनन्य भक्ति रख ही नहीं सकते। वे तो धनके लिये भक्तिका सौदा करते हैं। सब छोड़कर प्रभुका भजन करनेसे प्रभु मिलते हैं और प्रभुके मिलते ही सब कुछ मिल जाता है। फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।

( ७ ) सुख-दुःखका अनुभव मन ही करता है।

मन जिसे अनुकूल समझता है, उसमें सुख मानता है; जिसे प्रतिकूल समझता है, उसमें दुःख मानता है। मनको अनुकूल-प्रतिकूल वस्तुकी प्राप्ति प्रारब्धके अनुसार होती है; अतः उससे होनेवाले सुख-दुःखका अनुभव ही अनिवार्य है। फिर भी हर्ष-शोकसे छुटकारा पाना पुरुषार्थसाध्य है। अज्ञानी पुरुष सुखमें हर्ष और दुःखमें शोक करता है। ये हर्ष और शोक विकार हैं। ज्ञानीमें हर्ष-शोक नहीं होते। मनुष्य साधनाके द्वारा विवेक प्राप्त करके हर्ष-शोकसे पिण्ड छुड़ा सकता है। हर्ष-शोक प्रारब्धके नहीं, अज्ञानके फल हैं। गृहस्थ ज्ञानीके यहाँ किसीकी मृत्यु हो जाय तो उसे लोक-दृष्टिमें दुःख, शोक होना चाहे दिखायी दे; पर वास्तवमें दुःख, शोक नहीं होगा। हाँ, प्रतिकूलता-अनुकूलताका अनुभव मनको होगा।

( ८ ) मनुष्यको जीविकाके लिये कुछ उपार्जनका प्रयत्न करना चाहिये। सफलता दैवके हाथमें है। असफलता होनेपर भी दुःख न मानकर प्रयत्नमें लगा रहे। घरवालोंका कलह भी मौन होकर सह ले। क्षमासे दूसरोंका हृदय जीता जा सकता है। विवेकसे ही विचारोंपर संयम रखना सम्भव है। विवेक सत्संगसे प्राप्त होता है।

( ९ ) त्रिकालाबाधित तत्त्व ही अक्षय काल कहलाने योग्य है। अक्षय देश और अक्षय काल भगवान् ही हैं। लोकमें काल-शब्दसे व्यवहृत होनेवाले जो मास, वर्ष आदि विभाग हैं; वे नश्वर हैं, जहाँ समस्त प्राकृत प्रपञ्चका विलय हो जाता है, वे सनातन परमेश्वर ही अक्षय या सनातन काल हैं। अतः भगवान्ने जो अपनेको अक्षय काल बताया है, वह ठीक ही है।

( १० ) जैसे वायुका कोई आकार नहीं दिखायी देता, उसी प्रकार परमात्माकी आकृति भी सबके प्रत्यक्ष नहीं है; अतः वह निराकार है। फिर भी जैसे वायुमें स्पर्श गुण है, उसी प्रकार परमात्मामें अनन्त कल्याणमय गुण सञ्चित हैं। जैसे आकाश निराकार है, तो भी उसमें शब्द-गुणका सम्बन्ध है। यही नहीं, सबको अवकाश देनेका गुण भी उसमें मौजूद है। ऐसे ही परमात्मा सर्वव्यापक एवं निराकार हैं, फिर भी वे सबके स्रष्टा, पालक और संहारक हैं। वे सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् हैं। वे मनके भी मन, बुद्धिकी भी बुद्धि, प्राणके भी प्राण और आत्माके भी आत्मा हैं। उनकी शक्तिके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। ये सब उस परमात्माके गुण हैं। इन सब बातोंका विचार ही सगुण-निराकारका चिन्तन एवं ध्यान है।

( ११ ) श्रीकृष्णका प्रत्यक्ष दर्शन हो और उनका माधुर्य-भाव ठीक समझमें आ जाय—इसका सरल और अमोघ उपाय है सब ओरसे ममता, आसक्ति हटाकर सर्वथा श्रीराधाजीके चरणोंमें आत्मसमर्पण। श्रीराधाकी कृपासे ही श्रीकृष्णके माधुर्य-रसका समास्वादन हो सकता है।

( १२ ) भगवान् श्रीकृष्ण भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं। उनका यह अवतार भक्तोंको सुख देनेके लिये ही हुआ है। भक्तोंको सुख देकर प्रसन्न होना, यह श्रीकृष्णका सहज स्वभाव है। यशोदा मैया डराती हैं, धमकाती हैं, ऊखलमें बाँधती हैं और भगवान् रोते हैं—यह सब यशोदाके वात्सल्य-रसको पुष्ट करनेके लिये है। इस लीलाकी अन्तिम झाँकी यही है कि यशोदाको अपनी भूलपर पश्चात्ताप होता है, उनके हृदयमें वात्सल्यका समुद्र उमड़ आता है, और वे अपने कन्हैयाको छातीसे लगाकर स्नेहाश्रुओंकी वर्षा करती हुई एक अनिर्वचनीय सुखमें डूब जाती हैं। सखाओंको पीठपर चढ़ाना उन्हें सख्यरसका आस्वादन करानेके लिये होता है तथा श्रीराधारानीकी इच्छाके अनुरूप सखी आदिका वेष धारण करके वे उन्हें दिव्यातिदिव्य माधुर्य-रस-सिन्धुमें निमग्न करते रहते हैं। इन लीलाओंमें भगवान्को, उनके परिकरोंको तथा प्रेमी भक्तोंको कितना आनन्द होता है—यह वाणीका विषय नहीं है। यह सुख और यह रस केवल स्वानुभवगम्य है। इसका आस्वादन श्रीप्रिया-प्रियतमकी अहैतुकी कृपासे ही सम्भव है।

( ३ )

## मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । कृपापत्र मिला । धन्यवाद ! आपका कहना है कि 'संसारमें जो कुछ होता है, सब ईश्वरकी इच्छासे ही होता है । मनुष्य भी जो-जो कार्य करता है, वह सब ईश्वरेच्छासे ही करता है । ऐसी दशामें मनुष्योंको इसका फल क्यों भोगना पड़ता है ?'

उत्तरमें निवेदन है कि संसारमें जो सुख-दुःख, हर्ष-शोक, धन-वित्त आदि प्राप्त होते हैं, वे जीवोंके प्रारब्धके फल हैं । प्रारब्धके निर्माता एवं नियामक ईश्वर हैं तथा बिजलीकी बत्तियोंमें शक्ति प्रदान करके उन्हें जलानेवाले, शक्तिभण्डार ( पावरहाउस ) की तरह कर्म करनेकी शक्ति प्रदान करनेवाले भी ईश्वर हैं । इसीसे कहा जाता है कि यह सब ईश्वरेच्छासे हुआ है । वस्तुतः हुआ है अपने-अपने कर्मानुसार । समष्टि प्रकृतिमें जो चेष्टा होती है, वह ईश्वरेच्छासे होती है; क्योंकि जड प्रकृतिमें जो गतिशीलता आती है, वह चेतन पुरुषके संनिधानसे ही आती है । अतएव कहा जाता है कि ईश्वरकी इच्छाके बिना पत्ता भी नहीं हिलता । वास्तवमें—'स्वभावस्तु प्रवर्तते ।'

मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह ईश्वरकी इच्छासे करता है—यह मानना ठीक नहीं है । ईश्वर धर्ममय हैं । यदि उनकी प्रेरणासे मनुष्य कर्म करें तो सभीके द्वारा धर्मका ही अनुष्ठान हो । कोई पापके निकट जाय ही नहीं । अतः मनुष्यके द्वारा जो कुछ कार्य होता है, उसके मूलमें अहंकार और राग-द्वेष काम करते हैं । हाँ, जो निष्काम कर्मयोगी है अथवा जो भगवच्छरणागत निर्भर भक्त है, उसकी प्रवृत्ति राग-द्वेषके कारण नहीं होती । वह ईश्वरकी आज्ञासे ही सारे कार्य करता है, ईश्वरके लिये ही करता है । अतएव उसके द्वारा अनुचित कार्य कभी नहीं होते ।

भगवान्‌ने प्रत्येक मनुष्यको कर्म करनेमें स्वतन्त्र बना रक्खा है । अतएव उसके कार्यकी जिम्मेदारी उसीपर है । वह कर्म करनेमें स्वतन्त्र, किंतु फलभोगमें परतन्त्र है । मनुष्यके अन्तःकरणमें दो प्रधान शत्रु हैं—काम और क्रोध* । ये ही सारे अनर्थोंकी जड़ हैं । इन्हींकी प्रेरणासे मनुष्य पापकर्ममें प्रवृत्त होता है । ये दोनों शत्रु अपने मनमें रहते हैं और हम ही इनको प्रोत्साहन देते हैं । अतः इनके द्वारा होनेवाले कर्म भी हमारे ही किये हुए समझे जाते हैं । अतएव कोई भी मनुष्य, जो राग-द्वेष या कामनाके वशीभूत होकर कर्ममें प्रवृत्त होता है, अपने किये हुए कर्मोंके उत्तरदायित्वसे मुक्त नहीं हो सकता । उसे उनका फल अवश्य भोगना ही पड़ेगा ।

यदि ऐसा मान लिया जाय कि सब कुछ ईश्वर ही करते हैं, तब तो ईश्वरको विषम दृष्टि रखनेवाला और निष्ठुर मानना पड़ेगा; क्योंकि उन्होंने सबको एक-सा नहीं बनाया । किसीको सुन्दर बनाया तो किसीको काना या कुबड़ा कर दिया । कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी, कोई दरिद्र—ऐसी विषमता या निर्दयता क्या कभी ईश्वर करते हैं ?—नहीं; अतएव यह मानना पड़ेगा कि जीवोंको अपने किये कर्मोंका ही दण्ड या पुरस्कार मिलता है । भगवान् तो शक्तिदाता, नियामक और साक्षिमात्र हैं । शेष प्रभुकी कृपा ।

---

* काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः । महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ (गीता ३ । ३७)

भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—रजोगुणसे उत्पन्न काम ही क्रोध है । इस कामका पेट भरता ही नहीं, यह बड़ा पापी है । इसीको वैरी जानो ।

श्रीहरिः

# सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाकी पुस्तकें

सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

**भक्त बालक**—ग्यारहवाँ संस्करण, पृष्ठ ७२, एक सुन्दर चित्र, ६३००० छप चुकी है; इसमें गोविन्द, मोहन, धन्ना, चन्द्रहास और सुधन्वाकी कथाएँ हैं। मूल्य .... .... ।-)

**भक्त नारी**—बारहवाँ संस्करण, पृष्ठ ६८, एक तिरंगा तथा पाँच सादे चित्र, ८०००० छप चुकी है; इसमें शबरी, मीराबाई, करमैतीबाई, जनाबाई और रबियाकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

**भक्त-पञ्चरत्न**—दसवाँ संस्करण, पृष्ठ ८८, एक तिरंगा तथा एक सादा चित्र, ४६२५० छप चुकी है; इसमें रघुनाथ, दामोदर, गोपाल, शान्तोबा और नीलाम्बरदासकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

**आदर्श भक्त**—आठवाँ संस्करण, पृष्ठ ९६, एक रंगीन तथा ग्यारह सादे चित्र, ५१२५० छप चुकी है; इसमें शिबि, रन्तिदेव, अम्बरीष, भीष्म, अर्जुन, सुदामा और चक्रिककी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

**भक्त-चन्द्रिका**—आठवाँ संस्करण, पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र, ४९२५० छप चुकी है; इसमें साध्वी सखूबाई, महाभागवत श्रीज्योतिपन्त, भक्तवर विट्ठलदासजी, दीनबन्धुदास, भक्त नारायणदास और बन्धु महान्तिकी सुन्दर गाथाएँ हैं। मूल्य .... ... ।-)

**भक्त-सप्तरत्न**—आठवाँ संस्करण, पृष्ठ ८६, एक तिरंगा चित्र, ५३२५० छप चुकी है; इसमें दामाजी पन्त, मणिदास माली, कूबा कुम्हार, परमेष्ठी दर्जी, रघु केवट, रामदास चमार और सालबेगकी कथाएँ हैं। ।-)

**भक्त-कुसुम**—छठा संस्करण, पृष्ठ ८४, एक तिरंगा चित्र, ३०२५० छप चुकी है; इसमें जगन्नाथदास, हिम्मतदास, बालीग्रामदास, दक्षिणी तुलसीदास, गोविन्ददास और हरिनारायणकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

**प्रेमी भक्त**—आठवाँ संस्करण, पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र, ४९२५० छप चुकी है; इसमें बिल्वमङ्गल, जयदेव, रूप-सनातन, हरिदास और रघुनाथदासकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

**प्राचीन भक्त**—चौथा संस्करण, पृष्ठ १५२, चार बहुरंगे चित्र, ३८२५० छप चुकी है; इसमें मार्कण्डेय, महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्ख, कण्डु, उत्तङ्क, आरण्यक, पुण्डरीक, चोलराज और विष्णुदास, देवमाली, भद्रतनु, रत्नग्रीव, राजा सुरथ, दो मित्र भक्त, चित्रकेतु, वृत्रासुर एवं तुलाधार शूद्रकी कथाएँ हैं। मूल्य ॥)

**भक्त-सौरभ**—चौथा संस्करण, पृष्ठ ११०, एक तिरंगा चित्र, १८२५० छप चुकी है; इसमें श्रीव्यासदासजी, मामा श्रीप्रयागदासजी, शङ्कर पण्डित, प्रतापराय और गिरधरकी कथाएँ हैं। मूल्य .... ।-)

**भक्त-सरोज**—चौथा संस्करण, पृष्ठ १०४, एक तिरंगा चित्र, २३२५० छप चुकी है; इसमें गङ्गाधरदास, श्रीनिवास आचार्य, श्रीधर, गदाधर भट्ट, लोकनाथ, लोचनदास, मुरारिदास, हरिदास, भुवनसिंह चौहान और अङ्गदसिंहकी कथाएँ हैं। मूल्य .... .... ।=)

**भक्त-सुमन**—चौथा संस्करण, पृष्ठ ११२, दो तिरंगे तथा दो सादे चित्र, ३८२५० छप चुकी है; इसमें विष्णुचित्त, विसोबा सराफ, नामदेव, राँका-बाँका, धनुर्दास, पुरन्दरदास, गणेशनाथ, जोग परमानन्द, मनकोजी बोधला और सदन कसाईकी कथाएँ हैं। मूल्य ... ।=)

**ये बूढ़े-बालक, स्त्री-पुरुष—सबके पढ़ने योग्य, बड़ी सुन्दर और शिक्षाप्रद पुस्तकें हैं। एक-एक प्रति अवश्य पास रखनेयोग्य है।**

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० ए० १७५

## संकटमें राम ही रक्षक हैं

जहाँ हित स्वामि, न संग सखा, बनिता, सुत, बंधु, न बापु, न मैया।
काय-गिरा-मनके जनके अपराध सबै छलु छाड़ि छमैया॥
तुलसी! तेहि काल कृपाल बिना दूजो कौन है दारुन दुःख दमैया।
जहाँ सब संकट, दुर्घट सोचु, तहाँ मेरो साहेबु राखै रमैया॥

(कवितावली)

श्रीगोसाईंजी कहते हैं कि जहाँ कोई हितैषी स्वामी नहीं है और न साथमें मित्र, स्त्री, पुत्र, भाई, बाप या मा ही है, वहाँ कृपालु भगवान् श्रीरामके बिना अपने जनके शरीर, मन और वचनद्वारा किये हुए समस्त अपराधोंको छल छोड़कर क्षमा करनेवाला तथा उस दारुण दुःखका नाश करनेवाला दूसरा कौन हो सकता है। जहाँ ऐसे-ऐसे सब प्रकारके संकट और दुर्घट सोच हैं, वहाँ मेरे स्वामी जगत्में रमण करनेवाले श्रीराम ही मेरी रक्षा करते हैं।